निवेदन

यह आत्मकहानी १३ महीनों तक निरंतर सरस्वती पत्रिका में प्रकाशित होकर अब पुस्तकाकार रूप में प्रकाशित हो रही है। इसमें कोई परिवर्तन नहीं किया गया है। जिस समय जैसी भावना मेरे मन में थी और जिन उद्देश्यों से प्रेरित होकर जो काम मैंने किया है तथा जिस प्रकार मेरे कार्यों में विघ्न-बाधाएँ उपस्थित हुई हैं उनका मैंने यथातथ्य वर्णन किया है, पर यह सब काम स्मरण-शक्ति तथा काशी-नागरी-प्रचारिणी सभा की फाइलों को देखकर किया गया है। फिर भी यह संभव है कि अनजाने में, विस्मृति से या भ्रांति के कारण किसी घटना के वर्णन में कोई विपर्यय हो गया हो। इसके लिये मुझे दुःख है। पर मैंने अपनी ओर से ऐसा करने का उद्योग नहीं किया है।

इस कहानी के सरस्वती में प्रकाशित होने के समय में मुझे एक विशेष अनुभव हुआ है, जिसका उल्लेख करना आवश्यक जान पड़ता है। मैं देखता हूँ कि हिंदी-साहित्य-जगत् में दलबंदी का प्राबल्य हो रहा है, जिसके कारण सत्य का हनन तथा प्रोपेगैंडा-द्वारा मिथ्या का प्रचार और पोषण हो रहा है। इसके कई उदाहरण दिये जा सकते हैं, पर उनसे कोई लाभ नहीं। केवल इतना ही कहना है कि इस प्रकार के कार्यों से भविष्य का इतिहास विकृत रूप में उपस्थित होगा और तथ्य-निर्णय के मार्ग में अनेक कठिनाइयाँ उपस्थित होंगी।

मैंने जिन भावनाओं से प्रेरित होकर इन कहानियों को लिखा है वे यथास्थान वर्णन की गई हैं, फिर भी सब लोगो को अधिकार है कि वे अपनी-अपनी रुचि के अनुसार उनका विवचेन करें। मैं तो इतना ही कहूँगा—

जिनकी होय भावना जैसी। मम मूरत देखें ते तैसी॥

काशी
६-१०-४१

निवेदक
श्यामसुंदरदास

प्रकरण-सूची

मेरी आत्मकहानी

(१)

वंश-परिचय और शिक्षा

बहुत दिनों से मेरी यह इच्छा थी कि मैं अपनी कहानी स्वयं लिख डालता तो अच्छा होता, क्योंकि मेरे जीवन से संबंध रखनेवाली मुख्य मुख्य घटनाओं का जान लेना तो किसी के लिये भी कठिन न होगा, पर हिंदी और विशेषकर काशी-नागरी-प्रचारिणी सभा से संबंध रखनेवाली अनेक घटनाओं का विवरण जिनका उस समय प्रकाशित होना असंभव-सा था परंतु जिनका ज्ञान बना रहना परम आवश्यक है, मेरे ही साथ लुप्त हो जायगा और ज्यों ज्यों समय बीतता जायगा मैं भी उन्हें कुछ कुछ भूलता जाऊँगा। इसलिये मेरी यह इच्छा है कि इस समय इन घटनाओं का वृत्तांत तथा अपना भी कुछ कुछ लिख डालूँ, जिससे समय पड़ने पर मैं इन बातों से काम ले सकूँ और मेरे पीछे दूसरे लोग उन घटनाओं की वास्तविकता जानकर इस समय के ऐतिहासिक तथ्य का यथार्थ निर्णय कर सकें। यद्यपि बहुत दिनों से मेरी इच्छा यह सब लिख डालने की थी और एक प्रकार से सितंबर सन् १९१३ ई० में मैंने लिखना आरम्भ भी कर दिया था, पर यह कार्य आगे न बढ़ सका। इसके कई कारण थे। एक तो कार्यों की व्यग्रता, दूसरे समय का अभाव, तीसरे गृहस्थी की चिंता

और सबसे बढ़कर ग्रंथों के लिखने-लिखाने का उत्साह—इन सबने मुझे यह कार्य न करने दिया। इधर मित्रवर मैथिलीशरण गुप्त ने जोर दिया कि और कामों को छोड़कर इसे मैं पहले कर डालूँ। अस्तु, अब विचार है कि नित्य थोड़ा थोड़ा समय निकाल कर इस काम को कर चलूँ तो, यदि ईश्वर की कृपा हुई तो, समय पाकर यह पूरा हो जायगा।

मुझे अपने पूर्वजों का विशेष वृत्तांत ज्ञात नहीं है। मैंने इसके जानने का उद्योग किया, पर मुझे उसमें सफलता न प्राप्त हुई। जहाँ तक मैं पता लगा सका मेरा वंश-वृक्ष पृष्ठ तीन पर लिखित प्रकार से है—

मेरे दादा लाला मेहरचंद का स्वर्गवास थोड़ी ही अवस्था में अमृतसर में हो गया था। मेरे पिता तथा उनके सहोदर लाला आत्माराम और उनकी बहिन का पालन-पोषण मेरे ज्येष्ठ पितामह लाला नानकचंद ने किया। मुझे इनका पूरा पूरा स्मरण है। इन्हें पूरी भगवद्‌गीता कंठाग्र थी और ये नित्य इसका पूरा पाठ किया करते थे। इनका स्वभाव बड़ा निष्कपट, सरल तथा धार्मिक था। ये मुझसे बड़ा स्नेह करते थे। इनकी बड़ी लालसा थी कि मैं शीघ्र ही पढ़ना-लिखना समाप्त करके किसी व्यवसाय में लग जाऊँ और खूब धन कमाकर लक्ष्मी का लाल कहलाऊँ। परंतु उनकी यह कामना पूरी न हो सकी। न तो मेरी शिक्षा उनके जीवन-काल में समाप्त हो सकी और न मुझे लक्ष्मी का लाल कहलाने का सौभाग्य ही प्राप्त हो सका। मैंने सरस्वती की सेवा की और कदाचित् ईर्ष्यावश लक्ष्मी सदा मुझसे रूठी रहीं। यह सब होते हुए भी सरस्वती की कृपा

रत्नचंद
नानकचद
मेहरचद
हरजीमल
पोलोमल
देवीदास (जन्म १९०७ स०, मृत्यु १९५७)
आत्माराम
श्यामसुदरदास (जन्म १९३२)
गौरीशंकर
रामचंद
रामकृष्ण
बालकृष्ण
मोहनलाल
कन्हैयालाल (जन्म १९५३, मृत्यु १९८३)
नंदलाल (जन्म १९५६, मृत्यु १९९४)
मोहनलाल (जन्म १९६१)
गोपाललाल (जन्म १९७१)
माधवलाल १९७७
कृष्णलाल १९७९
कमला १९८२
व्रजेंद्र, १९८४
विमला १९८७
राजेंद्रकुमार १९९३
नरेंद्रकुमार १९८७
इंदिरा १९९१
प्रभा १९९२
सुमन १९९५
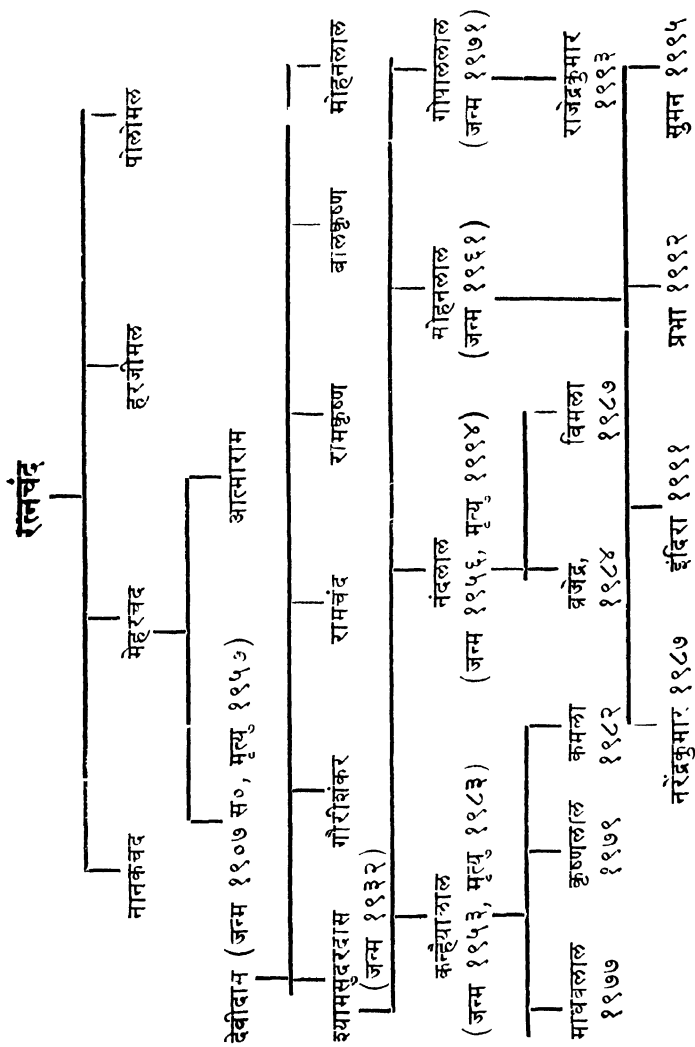
बनी रही और उन्हीं ने समय समय पर मेरे कष्टों का निवारण किया। अस्तु, लाला नानकचंद मुझसे कहा करते थे कि हमारे पूर्वज किसी समय अच्छे प्रतिष्ठित लोगों में थे। लाहौर में हमारा वंश टकसालियों के नाम से प्रसिद्ध था। हमारा प्राचीन घर अब तक 'टकसालियों का घर' के नाम से प्रसिद्ध है। मेरे दादा कहा करते थे कि इस घर में टकसाल थी और वहाँ मोहरें ढलती थीं, पर यह कब की तथा किस राजा के समय की बात थी इसका वे कुछ भी ठीक ठीक पता न दे सके। वे यह भी कहते थे कि जिस घर में टकसाल थी उसे मेरे छोटे दादा लाला पोलोमल ने, इन लोगों के काशी चले आने पर, बेंच डाला। बिक्री हो जाने के अनंतर इस घर में से बहुत-सा गड़ा हुआ धन भी मिला था, पर वह हम लोगों के अंश का न था, इसलिये हम लोगों के हाथ कुछ भी न लगा। दिनों के फेर से लाला नानकचंद अमृतसर में आकर रहने लगे। मैंने सोचा था कि यदि हरिद्वार के पंडों के यहाँ पुरानी बहियाँ मिल जायँ और उनमें मेरे पूर्वजों का कोई पुराना लेख मिल जाय तो उस सूत्र के आधार पर बहुत कुछ पता लगाया जा सकेगा, पर इस काम में भी सफलता न हुई। अस्तु, जब तक और किसी अनुसंधान से विशेष पता न लग सके तब तक यही मानकर संतोष करना होगा कि मेरे पूर्वज पूर्व काल में लाहौर राज्य के प्रतिष्ठित व्यक्तियों में से थे तथा उस समय के संभ्रांत लोगों में उनकी गिनती थी। परंतु किसी का समय सदा एक-सा नहीं रहता। ऐसा जान पड़ता है कि किसी घोर विपत्ति के कारण उनकी अवस्था बिगड़ गई और वे

लाहौर छोड़कर अमृतसर में आ बसे। यहाँ वे पुनः अपनी अवस्था के सुधारने में लगे, पर एक बार की बिगड़ी बात के बनाने में बड़ी कठिनता होती है। यदि सब कठिनाइयाँ दूर भी हो जायँ तो भी प्रायः अधिक समय की अपेक्षा रहती है। अस्तु, कई कारणों से मेरे कनिष्ठ पितामह लाला हरजीमल काशी चले आए और यहाँ व्यापार करने लगे। उन्होंने एक मारवाड़ी से साझा कर 'हरजीमल हरदत्तराय' के नाम से कपड़े की एक बड़ी कोठी खोली। यह कोठी लक्खी-चौतरे पर थी। ऊपर के हिस्से में मारवाड़ी महाशय के घर के लोग रहते थे और नीचे कोठी होती थी। इस व्यापार में उन्हें अच्छी सफलता प्राप्त हुई। दिन दिन लाला हरजीमल का वैभव बढ़ने लगा। मकान भी हो गया, नौकर-चाकर भी देख पड़ने लगे। सारांश यह कि लक्ष्मी के आने से जो खेल-तमाशे होते हैं वे सब देख पड़ने लगे। पर यह सब माया लाला हरजीमल के जीवन-काल में ही बनी रही। उनके आँख बंद करते ही सारा खेल उलट गया। लाला हरजीमल के लड़कों में फूट फैली। पहले बड़ा लड़का, जो उनकी पहली स्त्री से था, अलग होकर अमृतसर चला गया। दूसरी स्त्री से चार लड़के और एक कन्या हुई। इन लड़कों की दशा क्रमशः बिगड़ती गई और उनमें से दो का देहांत हो गया, तीसरे का पता नहीं कि कहाँ है। अस्तु, लाला हरजीमल के स्वभाव से मेरे ज्येष्ठ पितामह प्रायः असंतुष्ट रहते थे। इसका यह भी एक कारण हो सकता है कि एक धनपात्र था तथा दूसरा धनहीन। परंतु जहाँ तक मेरा अनुभव है, कनिष्ठ के कुटिल और कपटी रहने पर भी दोनों में

प्रेम था। समय पड़ने पर सब लड़ाई-झगड़े शांत हो जाते थे। एक समय की बात है कि बनारस के पंजाबी खत्रियों में से कुछ लोगों ने पंचायत करके लाला हरजीमल पर अपराध लगाकर उन्हें जातिच्युत करना चाहा। जब पंचायत हुई तो हमारे सब इष्ट-मित्र तथा संबंधी एक हो गए। परिणाम यह हुआ कि जो जातिच्युत करना चाहते थे उन्हें अपनी ही रक्षा करना कठिन हो गया। ऐसी ही एक घटना मेरे साथ भी हुई। मेरे मित्र बाबू जुगुलकिशोर के छोटे भाई बाबू सालिग्रामसिंह जापान गए थे। वहाँ से लौटने पर राजा मोतीचंद के यहाँ एक दावत में हम लोग एक साथ एक टेबुल के चारों ओर बैठकर जलपान कर रहे थे। इतने में खत्रियों के एक प्रतिष्ठित व्यक्ति ने आकर मुझसे पूछा कि 'कुछ लोगे?' मैंने कहा कि, 'हाँ, बरफ की कुलफी दीजिए।' उन्होंने लाकर दे दी। दूसरे दिन पंचायत करके उन्होंने कहा कि 'इन्होंने विलायतियों के संग खाया है, अतएव, ये जाति से निकाले जायँ।' मैं बुलाया गया। मुझसे पूछा गया कि 'क्या तुमने विलायतियों के संग बैठकर खाना खाया है।' मैंने कहा कि 'कौन कहता है, वह सामने आवे।' लाला गोवर्धनदास ने कहा, 'हाँ, मैंने स्वयं परोसा है।' इस पर मैंने पूछा कि 'आपने क्या परोसा', तो उन्होंने कहा कि 'बरफ की कुलफी।' इस पर मैंने कहा कि 'पंजाब में मुसलमान गुज्जरों से दूध लेकर लोग पीते हैं और उन्हें कोई जाति-च्युत करने का स्वप्न भी नहीं देखता। इन्हीं पंजाबी खत्रियों में यहाँ इसके विपरीत आचरण क्यों होता है? क्या पंजाब में किसी काम के करने पर हम निरपराध रहते हैं और यहाँ वही काम करने

पर हम अपराधी ठहरते हैं ? अतएव, विलायतियों के साथ बैठकर कुलफी खाना, और वह भी एक खत्री के हाथ से लेकर, कोई अपराध नहीं। यदि बाबू गोवर्धनदास यह समझते थे कि मैं एक अनुचित काम कर रहा हूँ तो उन्हें मुझे वहीं रोकना था। उन्होंने तो मुझे अपराधी बनाने में मदद की। अतएव, यदि दंड होना चाहिए तो उनको, जिन्होंने जान-बूझकर मुझे गढ़े में ढकेला और अब मुझ पर दोष लगाते हैं।' यह सुनकर तो उनके साथी बड़े चिंतित हुए और हो हुल्लड़ मचाकर पंचायत समाप्त कर दी गई। इसी संबंध में एक घटना और याद आ रही है। उसे भी यहीं लिख देता हूँ। हम लोग चार घर खन्ना हैं। हमारा विवाह आदि चार घर मेहरोत्रे, कपूर और सेठों के यहाँ हो सकता है। उस समय हमसे ऊँचे माने जानेवाले ढाई घर खन्ने, कपूर, मेहरे और सेठ होते थे। मेरे छोटे भाई मोहनलाल का विवाह ढाई घर की लड़की से हुआ। इस पर फिर जाति में हल्ला मचा कि यह काम इन्होंने उचित नहीं किया। इन्हें दंड देना चाहिए। यह बात यहाँ तक बढ़ी कि स्वयं हमारे चाचा लाला आत्माराम ने हमारे यहाँ बधाई तक देने के लिये आने का साहस न किया, पर कुछ वर्षों के अनंतर उन्होंने स्वयं अपने पोते का विवाह ढाई घर में किया। वे भीरु स्वभाव के थे। अपनी रक्षा की उन्हें बड़ी चिंता रहती थी। उनके इस स्वार्थमय स्वभाव का एक नमूना और देना चाहता हूँ। मेरे ज्येष्ठ पुत्र कन्हैयालाल का विवाह अमृतसर में होनेवाला था। मैं उस समय लखनऊ के कालीचरण हाई स्कूल का हेडमास्टर था। कुछ बराती बनारस से आए और मैं

लखनऊ से उनके साथ हो गया। जब हम लोग अमृतसर पहुँचे तो स्टेशनवालों ने असबाब की तौल की बात उठाई। मैंने कहा कि सब माल तौल लो और जो महसूल हो, ले लो। मेरे चाचा साहब इस चिंता में व्यग्र हुए कि हमारा माल अलग कर दिया जाय। इस पर मैं बिगड़ गया तब वे शांत हुए।

लाला हरजीमल की अवस्था में ऐसा आशातीत परिवर्त्तन देखकर मेरे ज्येष्ठ पितामह लाला नानकचंद अपनी स्त्री तथा दोनों भतीजों को साथ लेकर काशी चले आए। मेरे पिता ने कपड़े की छोटी-सी दुकान खोली। इसमें उन्हें हरजीमल हरदत्तराय की कोठी से माल मिल जाता था। धीरे धीरे उन्होंने अपने व्यवसाय में अच्छी उन्नति की। क्रमश: व्यापार बढ़ने लगा और धन भी देख पड़ने लगा। उनकी दुकान पुराने चौक में थी। मेरे पिता का विवाह लाला प्रभु-दयाल की ज्येष्ठा कन्या देवकी देवी से हुआ था। मेरे नाना गुजराँवाला के रहनेवाले एक बड़े जौहरी थे। उनकी दुकान अमृतसर में थी। ऐसा प्रसिद्ध है कि वे एक लाख रुपये की ढेरी लगाकर और उस पर गुड़गुड़ी रखकर तमाकू पीते थे। उन्हें बड़ा दंभ था। बिरादरी में जब कहीं गमी हो जाती तब वे नहीं जाते थे। केवल अपनी दुकान की ताली भेज देते थे। जाति के लोग उनसे असंतुष्ट थे। दैवदुर्विपाक से उनके लड़के का देहांत हो गया। मुर्दा उठाने के लिये बिरादरी का कोई नहीं आया। तब उन्हें जाकर लोगों के पैर पड़ना पड़ा और क्षमा माँगनी पड़ी। पुत्र-शोक में वे अपनी स्त्री, छोटे लड़के और तीनों कन्याओं को लेकर काशी चले आए और यहाँ

जौहरी की दुकान करके दिन बिताने लगे। दैवयोग से उन्होंने अनजाने में चोरी का माल खरीद लिया। इसमें वे पकड़े गए और दंडित हुए। मेरे पिता ने उनके घर की देख-भाल की और अपने साले को अपने साथ दुकान के काम में लगाया। जब तक मेरे नाना-नानी जीते रहे, मेरे मामा उन्हीं के साथ रहे। माता-पिता की मृत्यु हो जाने पर वे हमारे घर में आकर रहने लगे। मुझे अपने नाना-नानी का पूरा पूरा स्मरण है। वे प्रायः मुझे अपने यहाँ ले जाया करते और बड़ा लाड़-प्यार करते थे। खाते समय उनको लकवा मार गया और उसी बीमारी से उनकी मृत्यु हुई। मेरे मामा ने आरंभ में मेरे पिता के व्यापार में पूर्ण सहयोग दिया और काम को खूब सँभाला। विवाह होने पर उनकी स्त्री भी हमारे ही यहाँ रहती थी। यह विवाह मेरे नाना के जीवन-काल में ही हुआ था। विवाह हो जाने और माता-पिता के मर जाने पर उन्हें अपनी स्त्री को गहने देने की धुन समाई। दुकान से चुपचाप रुपया लेकर उन्होंने गहने बनवाए। यह हाल पीछे से खुल गया। इस पर वे अलग होकर अपनी दुकान चलाने और मेरे पिता के गाहकों को फोड़ने लगे। मेरे पिता का व्यवसाय दिन दिन घटने लगा और मामा उन्नति करने लगे। पिता ने चौक की दुकान उठा दी और रानीकुएँ पर दुकान कर ली। सारांश यह कि उनकी दुकान का काम दिन दिन घटने लगा और उन्हें अर्थ-संकोच से बड़ा कष्ट होने लगा। इस प्रकार जीवन के अंतिम दिनों में लकवे की बीमारी से ग्रसित होकर सितंबर सन् १९०० में उनका देहांत हो गया।

मेरा जन्म आषाढ़ शुक्ल ११ मंगलवार संवत् १९३२ (१४ जुलाई, सन् १८७५) में हुआ। ज्योतिष की गणना के अनुसार मेरी जन्म-कुण्डली इस प्रकार की है। मेरे जन्म का इष्ट काल ३८-१६ था। नक्षत्र विशाखा और लग्न मकर। इस हिसाब से राशि वृश्चिक हुई।

मेरा बाल्यकाल अत्यंत आनंद से बीता। मैं सबके लाड़-प्यार का पात्र था, विशेषकर इसलिये कि गृहस्थी में और कोई बालक न था। पहले-पहल मैं गुरु के यहाँ बैठाया गया। यहाँ जाना मुझे अच्छा न लगता था। न जाने के लिये नित्य बहाने खोजता था। मुझे खूब स्मरण है कि एक दिन न जाने की प्रबल इच्छा होने पर मैंने एक षड्यंत्र रचा। मैं दो-तीन बार पैखाने गया। बस मेरी दादी ने कहा कि लड़के की तबीअत अच्छी नहीं है, उसे दस्त आते हैं, वह गुरु के यहाँ नहीं जायगा। इस प्रकार जान बची। मैं कुछ दिनों तक गुरु के यहाँ पढ़ता रहा। यहाँ मुझे अक्षरों का ज्ञान और गिनती आ गई। यज्ञोपवीत होने पर मेरे दीक्षागुरु हरभगवान जी हुए। इनसे मैं संस्कृत, व्याकरण तथा कुछ धर्मग्रंथों को पढ़ने

लगा। दस ही वर्ष की अवस्था में मेरा विवाह हो गया। इसके अनंतर अँगरेजी की पढ़ाई आरंभ हुई। मेरे पिता के मित्र हनुमान-प्रसाद थे, जो लँगड़े मास्टर के नाम से प्रसिद्ध थे। वे वेसलियन मिशन स्कूल में, जो नीचीबाग में था, पढ़ाते थे। वहाँ मेरी अँगरेजी की शिक्षा आरंभ हुई। थोड़े दिनों के अनंतर इन मास्टर साहब की मिरनगी इंसपेक्टर से बिगड़ गई। उन्होंने स्कूल की नौकरी छोड़ दी और ब्रह्मनाल में शिवनाथसिंह की चौरी के पास अपना स्कूल खोला। इर्द-गिर्द के लड़के पढ़ने आने लगे और स्कूल चल निकला। कुछ काल के उपरांत यहाँ से हटकर स्कूल रानी-कुआँ पर गया और यहाँ पर उसका नाम हनुमान-सेमिनरी पड़ा। मास्टर हनुमानप्रसाद कुछ विशेष पढ़े-लिखे न थे, पर छोटे लड़कों को पढ़ाने का उनका ढंग बहुत अच्छा था। यहीं से मैंने सन् १८९० में एँग्लोवर्नाक्यूलर मिडिल परीक्षा पास की।

बाबू गदाधरसिंह मिर्जापुर में सिरिश्तेदार थे। उन्हें हिंदी से प्रेम था। कई बँगला पुस्तकों का उन्होंने हिंदी में अनुवाद किया था। उन्होंने हिंदी-पुस्तकों का एक पुस्तकालय 'आर्य-भाषा-पुस्तकालय' के नाम से खोल रखा था। केवल दो आलमारियाँ पुस्तकों की थीं, पर नई पुस्तकों के खरीदने आदि का सब व्यय बाबू गदाधरसिंह अपनी जेब से देते थे। यह पुस्तकालय हनुमान-सेमिनरी में आया और इसी संबंध से बाबू गदाधरसिंह से मेरा परिचय हुआ। इस स्कूल में रामायण का नित्य पाठ होता था। यहीं मानो मेरे हिंदी-प्रेम की नींव रखी गई। बीच में लगभग एक महीने तक लंडन मिशन

हाई स्कूल में भी मैंने पढ़ा। वहाँ मेरे पिता के एक मित्र के पुत्र बाबू दामोदरदास प्रोफेसर थे। उन्हीं की प्रेरणा से मैं वहाँ भेजा गया था। पर स्कूल बहुत दूर पड़ता था और मैं क्लास के कमजोर लड़कों में से था। इसलिये महीने-डेढ़ महीने के बाद मैं फिर हनुमान-सेमिनरी में आ गया। यहाँ से मिडिल पास करने पर क्वींस कलिजियेट स्कूल के नवें दर्जे में भरती हुआ। अब तक मेरी पढ़ाई की सब कमजोरी दूर हो गई थी और मैं क्लास के अच्छे लड़कों में गिना जाता था। स्कूल के सेकेंड मास्टर बाबू राममोहन बैनर्जी थे। वे चोगा पहन कर स्कूल में आते थे। इसी नवें दर्जे में पहले-पहल बाबू सीताराम शाह से मेरा परिचय हुआ और ६ वर्षों तक पढ़ाई में साथ रहा। इस प्रकार ये मेरे पहले मित्रों में से हैं। इनके द्वारा बाबू गोविंददास तथा उनके छोटे भाई डाक्टर भगवानदास से भी मेरा परिचय हुआ। बाबू गोविंददास ने मुझे सदा उत्साहित किया और सत्परामर्श से मुझे सुपथ पर लगाया। जब मैं दसवें दर्जे में पहुँचा तब मेरा परिचय बाबू जितेंद्रनाथ बसु से हुआ। ये बाबू उपेंद्रनाथ बसु तथा बाबू ज्ञानेंद्रनाथ बसु के छोटे भाई और बाबू शिवेंद्रनाथ बसु के बड़े भाई थे। इनके पिता बाबू हारानचंद्र बसु को ससुराल की संपत्ति मिली थी। ये लोग पहले बंगाल के कोन नगर में रहते थे, फिर ननिहाल में आकर रहने लगे। काशी में प्रतिष्ठित बंगाली रईस बाबू राजेंद्रनाथ मित्र थे जिनका प्रसिद्ध मकान चौखंभा में है। इनकी अतुल संपत्ति के ३ भाग हुए। एक भाग के स्वामी बाबू उपेंद्रनाथ बसु तथा उनके भाई हुए। हारान बाबू पहले बंगाल के

इंजीनियरिंग विभाग में काम करते थे। वहाँ से पेंशन लेकर वे काशी में आ बसे। मुझे इनके दर्शनों का सौभाग्य बराबर कई वर्षों तक होता रहा। अस्तु, जब जितेंद्रनाथ बसु (उपनाम मोटरू बाबू) से मेरा परिचय हुआ तब परस्पर स्नेह बढ़ता ही गया। हम लोग क्लास में प्राय: एक ही बेंच पर बैठते थे। क्रमशः गाढ़ी मित्रता हो गई। जब सन् १८९२ में मैंने इंट्रेंस पास कर लिया और साथ ही बाबू सीताराम शाह और बाबू जितेंद्रनाथ बसु भी उत्तीर्ण हुए, तब बाबू जितेंद्रनाथ बसु ने एक दिन यह प्रस्ताव किया कि यदि तुम हमारे घर पर आ जाया करो तो हम लोग साथ-ही साथ पढ़ें। मैंने पिता की आज्ञा लेकर इस प्रस्ताव को स्वीकार किया। पढ़ाई का यह क्रम चार वर्षों तक चलता रहा। जो अँगरेजी की पुस्तक आगे पढ़ाई जानेवाली होती थी उसे हम लोग पहले से बड़ी छुट्टियों (जैसे दुर्गापूजा, क्रिसमस आदि) में पढ़ लेते थे। जितेंद्रनाथ बसु के दो अध्यापक थे—एक लाजिक पढ़ाते थे और दूसरे संस्कृत। संस्कृत के अध्यापक स्वनामधन्य पंडित रामावतार पांडेय थे। ये संस्कृत के साहित्याचार्य थे। पीछे से इन्होंने अँगरेजी में एम० ए० तक पास किया था। मैं भी इन अध्यापकों से पढ़ता था। सन् १८९४ में मैंने अपने मित्रों के साथ इंटरमिडियेट परीक्षा पास की। सन् १८९६ में बी० ए० की परीक्षा के लिये हम लोग एक साथ जाकर प्रयाग में ठहरे थे। परीक्षा आरंभ होने के एक दिन पहले मुझ पर 'रेनल कालिक' का आक्रमण हुआ। जब तक इसका आक्रमण रहता, मैं छटपटाया करता और जमीन पर इधर से उधर

लुढ़का करता। डाक्टर ओहदेदार बुलाए गए और उनकी दवाई से मुझे लाभ हुआ। फिर भी परीक्षा देने में एक प्रकार से असमर्थ रहा। दवाई लेकर परीक्षा देने जाता था। परिणाम यह हुआ कि उस वर्ष परीक्षा में मैं फेल हो गया। मित्रों का साथ छूट गया। अब पुराने साथियों में पंडित रमेशदत्त पांडेय और पंडित काशीराम का साथ हुआ। इसी वर्ष सर एंटोनी मैकडानेल इन प्रांतों के लेफ्टेनेंट गवर्नर होकर आए। उनकी ऐसी इच्छा हुई कि प्रयाग के म्योर सेंट्रल कालेज में विज्ञान की शिक्षा का विशेष प्रबंध हो और क्वींस कालेज में आर्ट विषयों की पढ़ाई विशेष रूप से हो। इस पर मिस्टर आर्थर वेनिस ने, जो फिलासफी के अध्यापक तथा संस्कृत कालेज के प्रिंसपल थे, बी० ए० क्लास को संस्कृत पढ़ाना प्रारंभ किया। उस समय भवभूति का उत्तररामचरित हम लोगों की पाठ्य-पुस्तक थी। वेनिस साहब ने उसका पढ़ाना प्रारंभ किया। वे अँगरेजी में अनुवाद कराते और प्राकृत शब्दों की व्युत्पत्ति आदि बताते थे। हमारे क्लास में तीन विद्यार्थी ऐसे थे जिनके बिना क्लास का काम नहीं चलता था—एक पं० काशीराम, दूसरे पं० साधोराम दीक्षित और तीसरा मैं। प० काशीराम व्याकरण में व्युत्पन्न थे, पं० साधोराम साहित्यशास्त्र में और मेरी विशेष रुचि भाषा-विज्ञान की ओर थी। जब इन तीनों विषयों के प्रश्न छिड़ जाते तब हम लोगों की सम्मति माँगी जाती। यह बात यहाँ तक बढ़ी कि जिस दिन हम तीनों में से कोई उपस्थित न होता उस दिन संस्कृत की पढ़ाई बंद रहती। अस्तु, सन् १८९७ में मैंने बी० ए० पास किया। सन्

९५ और ९६ में मैंने लॉ-लेक्चर्स भी सुने। यह पढ़ाई न थी, केवल हाजिरी ली जाती थी। दस मिनिट में क्लास समाप्त हो जाता था। बाबू जोगेंद्रचंद्र घोष लॉ-प्रोफेसर थे। इस प्रकार कालेज की पढ़ाई समाप्त हुई। इस विद्यार्थी-जीवन की दो-एक घटनाएँ मुझे याद हैं जिनको मैं लिख देना चाहता हूँ।

हमारे अँगरेजी के प्रोफेसर मिस्टर जे० जी० जेनिंग्स थे। वे बड़े विचित्र स्वभाव के थे। मानो वे नौकरशाही शासनप्रणाली के साक्षात् प्रतिनिधि थे। न किसी से मिलना और न कुछ बात करना उनका सहज स्वभाव था। लड़कों ने भी उन्हें दिक करना आरंभ किया। जब उनका मुँह दूसरी तरफ होता या नीचे होता तो दो-एक शैतान लड़के रबर के फंदे से उन पर कागज के टुकड़े फेंकते। इससे उनका चेहरा लाल हो जाता था। एक दिन बी० ए० क्लास में उन्होंने अँगरेजी-शिक्षा पर निबंध लिखने के लिये विद्यार्थियों को आदेश दिया। मैंने भी लिखा। वे विद्यार्थियों को बुलाकर अपनी चौकी पर, जिस पर उनकी कुर्सी और टेबुल रहता, खड़ा करके निबंध पढ़ाते थे। मैं भी यथासमय बुलाया गया। मैंने निबंध अँगरेजी शिक्षा के विरोध में लिखा था। एक वाक्य मुझे अब तक याद है It damps the spirit of the Educated इस पर प्रोफेसर साहब बहुत लाल-पीले हुए। मेरे लेख का संशोधन नहीं किया गया और न वह लौटाकर ही मुझे मिला। प्रिंसपल साहब से मेरे विरुद्ध रिपोर्ट की गई और मैं उनके सामने बुलाया गया। उन्होंने मुझे समझा-बुझा कर मामला शांत किया; पर मिस्टर जेनिंग्स कभी प्रसन्न न हुए और

मेरी ओर उनका रुख टेढ़ा ही रहा। थोड़े दिनों के बाद उनकी बदली इलाहाबाद को हो गई और हमारे अँगरेजी के प्रोफेसर मिस्टर सी० एफ० डी० लॉ फास आए। ये सज्जन शिष्ट स्वभाव के थे, पर मिलनसार न थे।

एक दूसरी घटना सुनिए। मेरा साथ कुछ उच्छृङ्खल लड़कों से हो गया था। शनिवार को जाड़े के दिनों में १२ बजे कालेज बंद हो जाता था और क्रिकेट का खेल होता था। क्वींस कालेज की अमरूत की बाड़ी प्रसिद्ध थी। अब वह उजड़ गई है और खेल के मैदान का विस्तार बढ़ा दिया गया है इसमें जाकर हम लोग अमरूत खाते और आनंद मनाते थे। एक शनिवार को कालेज के पास एक बगीचे में जो वरुणा नदी के किनारे पर है हम लोग गए। यहाँ भाँग छनी। घर आते आते मुझे खूब नशा चढ़ा। अब तो यह डर लगने लगा कि यदि पिता जी को यह बात मालूम हो गई तो खूब कुंदी होगी। डर के मारे माँ से बहाना किया कि सिर में दर्द है। माँ ने गोदी में सिर रख कर तेल लगाना आरंभ किया, मुझे नींद आ गई। इस प्रकार मेरी जान बची। तब से अब तक फिर मैंने कभी भाँग पीने का नाम नहीं लिया।

इंटरमीडियेट की परीक्षा का एक विषय इतिहास था जिसमें रोम, यूनान और इँगलिस्तान का इतिहास पढ़ाया जाता था। मैंने इन पुस्तकों को ध्यानपूर्वक नहीं पढ़ा था, केवल साधारण बातें याद थीं। इतिहास की परीक्षा के दिन एक मित्र (प्रमथनाथ विश्वास) मुझसे प्रश्न करने लगे। उन्हें यह विषय खूब याद था। सब

लड़ाइयों के सन् उन्हे याद थे। मैं उनके एक भी प्रश्न का उत्तर न दे सका। परीक्षा के हाल में जब गया और अपनी जगह पर बैठ गया तब मेरा हृदय काँपने लगा और आँखों के आगे अँधेरा छा गया। यह बात मन में उठती थी कि अब मरे। प्रश्न-पत्र मिला, उसे उलट कर रख दिया। देखने तक का साहस न हुआ। जब तबीअत कुछ ठहरी तो प्रश्न-पत्र पढ़ा। उसमें किसी लड़ाई के सन्, कारण, परिणाम आदि न पूछे गये थे। केवल देशों की साधारण प्रवृत्ति पर प्रश्न थे। मैंने खूब लिखा। परिणाम यह हुआ कि मैं पास हो गया और विश्वास बाबू हिस्ट्री में ही फ़ेल हो गए।

क्वींस कालेज के लाइब्रेरियन बाबू राजेंद्रनाथ सान्याल थे। इनके पेंशन लेने पर पंडित भैरवदत्त अग्निहोत्री जो उसके संबद्ध स्कूल में मास्टरी करते थे लाइब्रेरियन बनाए गए। ये प्रिंसपल साहब तथा उनके हेड क्लर्क बाबू ठाकुरप्रसाद के बहुत मुँहचढ़े थे। इनके विरुद्ध कोई कार्रवाई सफल नहीं होती थी। अग्निहोत्री जी बड़े कुटिल स्वभाव के थे। पुस्तकें निकाल कर देना तो इनके लिये महा कठिन काम था। सौ हुज्जत करते थे। क्या करोगे? तुम इसको समझ भी सकोगे? जब विद्यार्थी इनसे तंग आ गए तब उन्होंने इन्हें दिक करने की ठानी। एक मंडली बनी जिसमें तै हुआ कि दो विद्यार्थी इनको बातों में फँसाएँ और एक विद्यार्थी इनके जूते धीरे से खिसका ले। ऐसा ही हुआ। जूते खिसका कर छाते में रखे गए और एक विद्यार्थी उस छाते को कंधे पर रखे हुए बेधड़क हाल में से बाहर चला गया तथा कालेज के बाहर के कुएँ में उन

जूतों को फेंक आया। उस दिन हम लोग कुछ देर तक यह देखने के लिये ठहरे रहे कि देखें घर जाते समय ये क्या करते हैं। जब कालेज बंद हुआ और ये घर चलने लगे तो देखते हैं कि जूते गायब। वे दौड़े हुए हेड क्लर्क साहब के पास पहुँच कर अपना रोना सुनाने लगे, पर वे क्या कर सकते थे। हम लोग हँसते हँसते घर आए। इस वर्ष टूर्नामेंट हुई। उसके प्रधान प्रबंधक ये अग्निहोत्री महाशय बने। कुछ लड़कों ने, जो क्रिकेट के खेल में निपुण थे, इन्हें तंग करने की ठानी। जब वे हुक्म देते तो एक लड़का छिपकर उनके गाल का निशाना एक अंडे से लगाता; बेचारे गाल पोंछते हुए दूसरी तरफ देखते तो दूसरे गाल पर अंडा पट से पड़ जाता। बड़ा होहल्ला मचा और खेल बंद हो गया।

इस प्रकार खेल-कूद और पढ़ाई-लिखाई में कालेज का काम समाप्त हुआ। यहाँ इतना और कह देना चाहता हूँ कि इसी विद्यार्थी-जीवन में मेरा स्नेह महामहोपाध्याय पंडित सुधाकर द्विवेदी के ज्येष्ठ पुत्र पंडित अच्युतप्रसाद द्विवेदी तथा बाबू इंद्रनारायणसिंह के भतीजे बाबू गुरुनारायणसिंह से हो गया। हम लोग प्रायः मिला करते और टेनिस आदि का खेल खेलते।

इस तरह पढ़ाई समाप्त हुई। वेनिस साहब बहुत चाहते थे कि मैं संस्कृत में एम० ए० पास करूँ, पर मेरी रुचि उस ओर न थी। इसी वर्ष लखनऊ में टीचर्स ट्रेनिंग कालेज खुला था। मैंने उसमें भरती होने की अर्जी दी और मुझे एक स्कालरशिप भी मिली। मैं लखनऊ गया और सेठ रघुवरदयाल के मकान पर बाबू कृष्णबलदेव

वर्म्मा के साथ ठहरा। ट्रेनिंग कालेज के प्रिंसपल मिस्टर केम्स्टर थे। उनके दाहिने हाथ, पंजाब के एक महाशय, मुंशी प्यारेलाल थे। बोर्डिंग का सब प्रबंध इन्हीं के हाथ में था। मैं चाहता था कि अलग बाबू कृष्णबलदेव के साथ रहूँ पर लाख उद्योग करने पर भी मेरी बात न मानी गई और एक महीना वहाँ रहकर मैं काशी लौट आया। अब चंद्रप्रभा प्रेस में मुझे ४०) रुपया मासिक पर लिटरेरी असिस्टेंट का काम मिला। कई महीने तक मैंने वह काम किया पर वह मुझे अच्छा न लगता था। उसे भी मैंने छोड़ दिया। फिर २० मार्च सन् १८९९ को हिंदू स्कूल में मुझे मास्टरी मिली। मैंने यहाँ १० वर्षों तक काम किया।

(२)

नागरी-प्रचारिणी सभा

सन् १८९३ की बात है। मैं उस समय इंटरमीडियेट के सेकेंड इयर में था। उन दिनों हम लोगों के कई डिबेटिंग क्लब थे, पर उनका कालेज से कोई संबंध न था। छोटे दर्जे के विद्यार्थियों ने भी अपनी अलग डिबेटिंग सुसाइटी बनाई थी। इसका अधिवेशन प्रतिशनिवार को १२ बजे नार्मल स्कूल में होता था। गर्मी की छुट्टियों में यह काम बंद हो गया। ९ जुलाई सन् १८९३ को इस सुसाइटी का एक अधिवेशन बाबू हरिदास बुआसाव के अस्तबल के ऊपरी कमरे में हुआ। इसमें आर्यसमाज के उपदेशक शंकर-लाल जी आए और उन्होंने एक व्याख्यान दिया। पीछे से ये

दक्षिण-अफ्रिका में स्वामी शंकरानंद के नाम से प्रसिद्ध हुए। इनका व्याख्यान बड़ा जोशीला होता था। हम लोग इस व्याख्यान से बड़े उत्साहित हुए। यह निश्चय हुआ कि अगले सप्ताह में १६ जुलाई को फिर सभा हो। उसमें यह निश्चय हुआ कि आज नागरी-प्रचारिणी सभा की स्थापना की जाय। मैं मंत्री चुना गया और सभा के साप्ताहिक अधिवेशन होने लगे। उस समय जो लोग उसमें संमिलित हुए उनमें से पंडित रामनारायण मिश्र, ठाकुर शिवकुमारसिंह और मैं अब तक इस सभा के सभासद बने हुए हैं, और लोग धीरे-धीरे अलग हो गए। अतएव उदार जनता ने हमीं लोगों को सभा का संस्थापक तथा जन्मदाता मान लिया है।

भारतेंदु हरिश्चंद्र जी का स्वर्गवास हो चुका था। प्रयाग में हिंदी के लिये कुछ उद्योग हुआ था, पर हमारी आरंभ-शूरता के कारण दो ही तीन वर्षों में वह स्थगित हो गया। इस समय हिंदी की बड़ी बुरी अवस्था थी। वह जीवित थी यही बड़ी बात थी। राजा शिवप्रसाद के उद्योग तथा भारतेंदु जी के उसके लिये अपना सर्वस्व आहुति द देने के कारण उसको जीवन-दान मिला था। हिंदी का नाम लेना भी इस समय पाप समझा जाता था। कचहरियों में इसकी बिलकुल पूछ नहीं थी। पढ़ाई में केवल मिडिल क्लास तक इसको स्थान मिला था। पढ़नेवाले विद्यार्थियों में अधिक संख्या उर्दू लेती थी। परीक्षार्थियों में भी उर्दूवालों की संख्या अधिक रहती थी। वही विद्यार्थी अच्छा और योग्य समझा जाता था जो अँगरेजी फर्राटे से बोल सकता था और उसी का मान भी होता था। हिंदी

बोलनेवाला तो गँवार कहा जाता था। वह बड़ी हेय दृष्टि से देखा जाता था। इस अपमान की अवस्था में लड़कों के खिलवाड़ की तरह नागरी-प्रचारिणी सभा की स्थापना हुई। किसी ने स्वप्न भी न देखा था कि यह हिंदी की उन्नति कर सकेगी और उसकी पूछ होगी। मैं तो इसे ईश्वर की प्रेरणा ही समझता हूँ कि वह इतनी उन्नति कर सकी और देश की प्रमुख संस्थाओं में महत्त्वपूर्ण स्थान पर विराज सकी। प्रारंभ में तो यह लड़कों का खिलवाड़ ही थी। प्रतिरविवार को लोग इकट्ठे होते और व्याख्यान देते। पहले-पहल भारतजीवन पत्र के संपादक बाबू कार्तिकप्रसाद ने इसे आश्रय दिया और अपना वरद हाथ इसके सिर पर रखा। प्रत्येक बात में वे इसके फ्रेंड, फिलासफर और गाइड हुए। पहले ही वर्ष में जिन कार्यों का सूत्रपात हुआ वे समय पाकर पल्लवित और पुष्पित हुए तथा उनमें फल लगे। सभा के इस बाल्यकाल का स्मरण कर और सन् १९३९ में उसकी उन्नति देखकर परम संतोष, उत्साह और आनंद होता है। हमारी आरंभ-शूरता के पाप को इसने धो बहाया। आरंभ में तो हिंदी के प्रमुख लोग इसमें संमिलित होने में बड़ी आना-कानी करते थे, यहाँ तक कि बाबू राधाकृष्णदास भी कई महीनों तक इससे संबंध करने में हिचकिचाते रहे। उनका अनुमान था कि यह बहुत दिनों तक न चल सकेगी और व्यर्थ हम लोगों की बदनामी होगी। पर बहुत जोर देने पर वे ६ महीने बाद संमिलित हुए और इसके प्रथम सभापति चुने गए। उनके संमिलित होते ही यह उन्नति के मार्ग पर अग्रसर हुई। उन्होंने अपने मित्रों तथा हिंदी के प्रमुख

व्यक्तियों को एक छपी चिट्ठी भेजी। अब तो बहुत-से लोग क्रमशः इसके सभासद बनने लगे। बाबू राधाकृष्णदास ने सभा की अमूल्य सेवा की है। पहले ही वर्ष में सभा ने कोश, व्याकरण, हिंदीभाषा, हिंदीपत्र तथा उपन्यासों का इतिहास, यात्रा, हिंदी के विद्वानों के जीवन-चरित्र तथा वैज्ञानिक ग्रंथों के लिखवाने और अन्य अनेक बातों का सूत्रपात किया, जो सब कार्य समय पाकर सफल हुए। इसका पहला वार्षिकोत्सव ३० सितंबर १८९४ को कारमाइकेल लाइब्रेरी में मनाया गया। अब तक सभा के कार्यालय का कोई स्थान न था। उसका कार्यालय मेरे ही घर पर था। यह विचार हुआ कि प्रथम वार्षिकोत्सव का सभापति किसको बनाया जाय। बाबू राधाकृष्णदास तथा बाबू कार्तिकप्रसाद ने मिलकर परामर्श किया। सोचा गया कि राजा शिवप्रसाद ने हिंदी की बड़ी सेवा की है। उन्हीं के द्वारा उसकी रक्षा हो सकी है, नहीं तो हिंदी का कहीं नाम भी न रह जाता। वे ब्रिटिश गवर्नमेंट के बड़े भक्त थे, सिक्ख-युद्ध में उन्होंने जासूसी भी की थी। पीछे वे स्कूलों के इंसपेक्टर बनाए गए। उन्होंने विरोध को कम करने के लिये केवल नागरी अक्षरों के प्रचार के बने रहने पर जोर दिया। भाषा वे मिश्रित चाहते थे। जो हो, उस समय उनकी नीति ने बड़ा काम किया। यह सब स्मरण करके यह निश्चय किया गया कि वे ही सभापति बनाए जायँ। बाबू राधाकृष्णदास, बाबू कार्तिकप्रसाद और मैं उनसे मिलने गए। उन्होंने कहा कि मैंने कलम तोड़ दी है, मेरी दावात सूख गई है, मैं अब किसी झंझट में नहीं पड़ना चाहता। मुझे भूल जाइए। बाबू राधाकृष्णदास

ने बहुत जोर दिया, तब कहीं जाकर उन्होंने स्वीकृति दी। अस्तु, निमंत्रण-पत्र बाँटे गए और उत्सव का आयोजन किया गया। जब इसकी खबर कांग्रेस-भक्त नवयुवकों को लगी तो वे कहने लगे कि यदि राजा साहब सभा में आवेंगे तो हम लोग उनकी बेइज्जती करेंगे और उन्हें सभापति न होने देंगे। बड़ी कठिन समस्या उपस्थित हुई। कुछ समझ में न आता था कि क्या किया जाय। अंत में यह निश्चय हुआ कि राजा साहब को सभा में आने से रोका जाय और किसी दूसरे सभापति की खोज की जाय। ऐसा ही किया गया। चंद्रप्रभा प्रेस के मैनेजर पंडित जगन्नाथ मेहता ने इस समय बड़ी सहायता की। वे गए और रायबहादुर पं० लक्ष्मीशंकर मिश्र को सभा में ले आए। पंडित लक्ष्मीशंकर मिश्र, पंडित रामजसन मिश्र के ज्येष्ठ पुत्र थे। इन पंडित रामजसन ने पहले पहल जायसी की पद्मावत छपाई थी। इनके चार पुत्र पंडित लक्ष्मीशंकर मिश्र, पंडित रमाशंकर मिश्र, पंडित उमाशंकर मिश्र और पंडित ब्रह्मशंकर मिश्र थे। सभी एम० ए० पास थे और अच्छे अच्छे ओहदों पर थे। पं० लक्ष्मीशंकर मिश्र 'काशीपत्रिका' निकालते थे। वे पहले क्वींस कालेज में गणित के प्रोफेसर थे। इस समय स्कूलों के Assistant Inspector थे। ई० ह्वाइट साहब इन दिनों इस प्रांत के डाइरेक्टर आव पब्लिक इंस्ट्रक्शन थे। वे मिश्रजी को बहुत मानते थे। यह संयोग सभा के लिये शुभ फलप्रद हुआ। उत्सव पंडित लक्ष्मीशंकर मिश्र के सभापतित्व में आनंदपूर्वक मनाया गया और उक्त पंडित जी अगले वर्ष के लिये सभापति चुने गए। इन दिनों में सभा कुछ

विशेष उद्योग न कर सकी। मन के लड्डू खाती और आकाश-पुष्प की कामना करती थी। दरभंगा के महाराज लक्ष्मीश्वरसिंह को सभा ने लिखा था कि यदि आप सहायता करें तो सभा एक हिंदी का कोश तैयार करे। महाराज ने १२५) सहायतार्थ भेजकर लिखा कि इस समय मैं क्यडिस्ट्रल सर्वे में फँसा हुआ हूँ। सभा काम करे, मैं फिर और सहायता देने पर विचार करूँगा। इसके पहले काँकरौली के महाराज गोस्वामी बालकृष्णलाल के यहाँ, जो उन दिनों काशी में आए हुए थे और गोपालमंदिर में ठहरे थे, हिंदी-कवियों का दरबार लगता था। एक दिन बाबू जगन्नाथदास रत्नाकर मुझे अपने साथ ले गए और महाराज से सहायता देने की प्रार्थना की। कई दफे दौड़ने पर १००) मिला। यह पहला दान था जो सभा को प्राप्त हुआ। उन दिनों डुमराँव के मुंशी जयप्रकाशलाल की बड़ी धूम थी। उनको बराबर एड्रेस मिलते थे और वे सबकी सहायंता करते थे। बाबू रामकृष्ण वर्मा ने संमति दी कि सभा उन्हें एड्रेस दे तो कुछ सहायता मिल सकती है। सभा तैयार हो गई। बाबू रामकृष्ण वर्म्मा ने एड्रेस की पांडुलिपि तैयार की। पीछे यह विदित हुआ कि बाबू रामकृष्ण ने मुंशी जी से ठहराव कर लिया है कि हमको इतना रुपया (कदाचित् ५००)) दो तो हम एड्रेस दिलवावें। हम लोगों को डर हुआ कि कहीं हम लोग कोरे ही न रह जायँ इसलिये निश्चय किया गया कि एड्रेस न दिया जाय।

इसी पहले वर्ष में सभा ने हिंदी-पुस्तकों की खोज का सूत्रपात किया। उसने भारत-गवर्नमेंट, संयुक्त-प्रदेश की गवर्नमेंट, पंजाब की

गवर्नमेंट तथा बंगाल की एशियाटिक सुसाइटी से प्रार्थना की कि संस्कृत-हस्तलिखित पुस्तकों के साथ हिंदी-पुस्तकों की भी खोज की जाय। संयुक्त-प्रदेश की गवर्नमेंट ने बनारस के संस्कृत-कालेज में रक्षित हस्तलिखित हिंदी-पुस्तकों की एक सूची बनवाकर भेजी। भारत और पंजाब गवर्नमेंटों ने कुछ नहीं किया। बंगाल की एशियाटिक सुसाइटी ने दो वर्ष तक यह काम कराया। पीछे से उसे बंद कर दिया।

दूसरे वर्ष (१८९४—९५) के प्रारंभ में कायस्थ कांफ्रेंस का वार्षिक अधिवेशन काशी में हुआ था। सभा ने यह समझा कि कायस्थ जाति के लोग अधिकतर दफ्तरों में काम करते हैं। वे यदि हिंदी को अपना लें तो उसके प्रचार में विशेष सहायता पहुँच सकती है। लखनऊ के बाबू श्रीराम इस अधिवेशन के सभापति हुए थे। वे संस्कृत के ज्ञाता थे। इससे और भी अधिक आशा हुई। एक डेपुटेशन भेजा गया और हिंदी को अपनाने की प्रार्थना की गई। कांफ्रेंस ने निश्चय भी इस प्रार्थना के समर्थन में किया पर परिणाम कुछ भी न निकला। यदि कायस्थ और काश्मीरी लोग हिंदी के पक्ष में हो जायँ, तो हिंदी के प्रचार में बहुत कुछ सहायता पहुँच सकती है। पर जहाँ काश्मीरी पंडितों में ऐसे व्यक्ति भी हैं जो उर्दू को अपनी 'मादरी जबान' मानने में अपना अहोभाग्य समझते हैं, वहाँ क्या आशा की जा सकती है? वहाँ, यदि आशा है तो कायस्थों और काश्मीरियों के स्त्री-समाज से है जो हिंदी को आग्रह से ग्रहण कर रहा है और उसके पठन-पाठन में दत्त-चित्त है।

इसी वर्ष तीन महत्त्वपूर्ण कार्यों का भी आरंभ हुआ। सभा ने प्रांतिक बोर्ड आव रेवेन्यू से निवेदन किया कि सन् १८८१ और १८७५ के एक्ट नं० १२ और १९ के अनुसार सम्मन आदि नागरी और फारसी दोनों अक्षरों में भरे जाने चाहिएँ, पर ऐसा नहीं होता है। इस नियम का पालन होना चाहिए। जब बोर्ड से कोई उत्तर न मिला तब सभा ने गवर्नमेंट को लिखा। इसका परिणाम यह हुआ कि बोर्ड ने आज्ञा दी कि आगे से दोनों फार्म भरे जायँ, पर इस आज्ञा का भी कोई परिणाम नहीं हुआ।

इसी वर्ष सभा के पुस्तकालय की नींव पड़ी। खड्गविलास प्रेस तथा भारत-जीवन आदि से कुछ पुस्तकें प्राप्त हुईं। इसी से नागरी-भंडार का आरंभ हुआ।

हिंदी-हस्तलिपि पर पुरस्कार देने का सभा ने पहले ही वर्ष में नश्चय किया था, पर शिक्षा-विभाग से लिखापढ़ी करने में देर हुई, इसलिये दूसरे वर्ष में इसका आरंभ हुआ।

सन् १८९४ में मैंने पहले पहल हिंदी में एक लेख लिखा। मेरी पाठ्य पुस्तकों में उस समय एक पुस्तक Help's Essays written in the intervals of business थी। इसमें एक निबंध था Aids to contentment। मैंने इसके आधार पर एक लेख "संतोष" नाम से लिखा जो बाँकीपुर के एक मासिक पत्र में छपा। अब उस लेख की प्रति मेरे पास नहीं है और बहुत उद्योग करने पर वह अब तक प्राप्त न हो सकी।

इसी वर्ष पहले-पहल बाबू कार्तिकप्रसाद, बाबू माताप्रसाद और

मैं सभा के सभासद बनाने के लिये प्रयाग तथा लखनऊ गए। अनेक प्रतिष्ठित व्यक्ति सभासद बने। इसी यात्रा में मैं पहले-पहल पं० मदनमोहन मालवीय, पंडित बालकृष्ण भट्ट, बाबू कृष्णबलदेव वर्मा, मुंशी गंगाप्रसाद वर्मा आदि से परिचित हुआ। यह यात्रा बड़ी सफल रही।

तीसरे वर्ष (सन् १८९५-९६) में सभा ने कई महत्त्वपूर्ण कार्यों का आरंभ किया। अब हरिप्रकाश प्रेस में एक कमरा ४) रु० महीने पर किराये पर लिया गया और कुछ टेबल, कुर्सी, बेंच आदि का प्रबंध किया गया। जिस दिन सभा का कोई अधिवेशन होता उस दिन मुझे ही सब काम करना पड़ता था, यहाँ तक कि कभी कभी झाड़ू भी अपने हाथ से देना पड़ता था। पर इसके करने में न मुझे हिचकिचाहट होती थी और न लज्जा ही आती थी। मैं नहीं कह सकता कि क्यों सब कामों के करने में मुझे इतना उत्साह था।

इसी वर्ष नागरी-प्रचारिणी पत्रिका निकालने का प्रबंध किया गया। सभा की तीसरी वार्षिक रिपोर्ट में इस संबंध में यह लिखा है—

"सभा की कोई सामयिक पत्रिका न होने के कारण उसकी निर्णीत बहुत-सी बातें सर्व-साधारण में प्रचारित होने से रह जाती थीं और सभा के बहुतेरे उद्योग सरोवर में खिलकर मुरझानेवाले कमलों के समान हो जाते थे। दूसरे बहुतेरे भावपूर्ण उपयोगी लेख सभा में आकर पुस्तकालय की आलमारियों को ही अलंकृत करते थे जिससे उसके सुयोग्य लेखक हतोत्साह हो जाते थे और

सुरसिक उत्साही पाठक जन प्यासे चातक की भाँति बाट जोहते ही रह जाते थे। इन्हीं बातों का विचार कर और हिंदी में भाषातत्त्व, भूतत्त्व, विज्ञान, इतिहास आदि विद्याविषयक लेखों और ग्रंथों का पूर्ण अभाव देख सभा ने नागरी-प्रचारिणी पत्रिका निकालना प्रारंभ किया है।"

आरंभ में यह पत्रिका त्रैमासिक निकलने लगी और मैं उसका प्रथम संपादक नियत हुआ।

चौथे वर्ष (१८९५-९६) में कई काम हुए। इस वर्ष में यह बात प्रचलित हुई कि गवर्नमेंट अदालतों में फारसी अक्षरों के स्थान पर रोमन अक्षरों का प्रचार करना चाहती है। इस सूचना से बड़ी खलबली मची। अतएव विचार किया गया कि इस अवसर पर चुप रहना ठीक न होगा। यदि एक बार रोमन अक्षरों का प्रचार हो गया तो फिर देवनागरी अक्षरों के प्रचार की आशा करना व्यर्थ होगा। आंदोलन करने के लिये सभा के पास धन नहीं था। अतएव, यह निश्चय हुआ कि मैं मुजफ्फरपुर जाऊँ और वहाँ से कुछ धन प्राप्त करने का उद्योग करूँ। मैंने सभा की आज्ञा शिरोधार्य की। वहाँ मैं बाबू देवीप्रसाद खजाँची के यहाँ ठहरा और उनके साथ बाबू परमेश्वरनारायण मेहता तथा बाबू विश्वनाथप्रसाद मेहता से मिला और उन्हें सब बातें बताईं। वे दोनों महाशय अत्यंत विद्यारसिक और उदार थे। वे १२५), १२५) रु० देकर सभा के स्थायी सभासद बने और रोमन के विरुद्ध आंदोलन करने के लिये दोनों महाशयों ने मिलकर ५०) दान दिया। यह धन लेकर मैं काशी लौटा तो उत्साह

से भरा हुआ था। निश्चय हुआ कि इस संबंध में एक पैम्फलेट छपवाया जाय। बाबू राधाकृष्णदास ने उसके नोट तैयार किये। मैंने पैम्फलेट अँगरेजी में लिखा और पंडित लक्ष्मीशंकर मिश्र ने उसका संशोधन और परिमार्जन किया। यह पैम्फलेट The Nagari Character नाम से सन् १८९६ में प्रकाशित किया गया और इसकी प्रतियाँ चारों ओर बाँटी गईं। आनंद की बात है कि २७ जुलाई सन् १८९६ की गवर्नमेंट की आज्ञा नं० ९४५/३-११७ सी० में कहा गया कि गवर्नमेंट ने रोमन अक्षरों के प्रचार का प्रस्ताव अस्वीकृत कर दिया है।

इस वर्ष के नवंबर मास में सर एंटोनी मैकडानेल साहब जो इस प्रदेश के लेफ्टिनेंट गवर्नर थे, काशी पधारे। सभा ने उनको एक अभिनंदन-पत्र देने का विचार कर उसके लिये आज्ञा माँगी। कोई उत्तर न मिला। जब सर एंटोनी साहब काशी पहुँच गए तो मैं नदेसर की कोठी में जहाँ वे ठहरे थे, बुलाया गया। बनारस के कमिश्नर के सिरिश्तेदार ने मुझसे कहा कि यदि तुम्हारी सभा अभिनंदन-पत्र देना चाहती है तो जाओ डेपुटेशन लेकर अभी आओ। मैंने कहा कि संध्या हो चली है। लोगों को इकट्ठा करने में समय लगेगा। यदि कल या परसों इसका प्रबंध हो सके तो हम लोग सहर्ष आकर अभिनंदन-पत्र दे सकते हैं। उन्होंने कहा, यह नहीं हो सकता। मैं लौट आया और मुख्य मुख्य सभासदों से सब बातें कहीं। निश्चय हुआ कि अभिनंदन-पत्र डाक से भेज दिया जाय और सब बातें लिख दी जायँ। ऐसा ही किया गया।

उसके उत्तर में लाट साहब के प्राइवेट सेक्रेटरी ने निम्नलिखित पत्र भेजा।

His Honour has read the Address with interest. The substantial question referred to, *i. e.*, the substitution of Hindi for Urdu as the official language of the court, is one on which His Honour cannot now express an opinion. He admits, however, that your representation deserves careful attention and this he will be prepared to give to it at some future suitable time.

इसके अनंतर प्रयाग में भारतीभवन के वार्षिकोत्सव पर जसटिस नाक्स ने जो उस उत्सव के सभापति थे, कहा कि यह अवसर है कि तुम लोगों को अदालतों में नागरी-प्रचार के लिये उद्योग करना चाहिए। तुम्हें सफलता प्राप्त होने की पूरी आशा है। गवर्नर के ऊपर दिए उत्तर तथा जसटिस नाक्स के कथन का प्रभाव पड़ा और पंडित मदनमोहन मालवीय ने इस काम को अपने हाथ में लिया। कई वर्षों के परिश्रम के अनंतर उन्होंने Court Character and Primary Education नाम से एक पुस्तिका लिखकर तैयार की और वे एक डेपुटेशन भेजने का विचार करने लगे। इस पुस्तिका के तैयार करने में उनके मुख्य सहायक पंडित श्रीकृष्ण जोशी थे, जो बोर्ड आफ रेवेन्यू में नौकर थे। इस आंदोलन का विवरण आगे चलकर दूँगा।

इसी वर्ष महाराज रीवाँ ने निज राज्याभिषेक के समय अपने राज्य में नागरी-प्रचार की आज्ञा दी और १०० रु० सभा को दान दिया।

चौथे वर्ष नागरी-प्रचारिणी पत्रिका में मेरे दो लेख प्रकाशित हुए। वे दोनों लेख ये थे।

(१) भारतवर्षीय आर्य-देश-भाषाओं का प्रादेशिक विभाग और परस्पर संबंध। यह डाक्टर ग्रियर्सन-लिखित एक लेख का अनुवाद है जो Calcutta Review में छपा था।

(२) नागर जाति और नागरी-लिपि की उत्पत्ति। यह Asiatic Society के जरनल में छपे हुए एक लेख का अनुवाद है।

यहाँ पर कुछ विशेष घटनाओं का उल्लेख कालक्रम के अनुसार उचित जान पड़ता है।

सभा की उन्नति और विशेष कर मेरी ख्याति से चंद्रकांता उपन्यास के लेखक बाबू देवकीनंदन खत्री को विशेष ईर्ष्या उत्पन्न हुई। वे पंडित रामनारायण मिश्र को शिखंडी बनाकर भाँति भाँति के आक्रमण तथा दोषारोपण मुझ पर करने लगे। इससे मैं बहुत खिन्न हुआ। चौथे वर्ष के आरंभ में जो कार्यकर्त्ताओं का चुनाव हुआ, उसके लिये बाबू देवकीनंदन ने बहुत उद्योग किया और मैं उदासीन था। अतएव, वे मंत्री चुने गए। पर उनके मंत्रित्वकाल में सभा की प्रगति स्थगित रही। बाहरी सभासदों की संख्या गत वर्ष की अपेक्षा अवश्य बढ़ी पर आय में बहुत कमी हुई। विशेष चंदा तो कहीं से प्राप्त ही न हुआ। सभासदों के बढ़ने पर भी उनके चंदे

की आय ३३९) से घटकर २२७) हो गई। कोई नया कार्य इस वर्ष नहीं हुआ, यहाँ तक कि सभा के अधिवेशन भी बहुत कम हुए। सच बात तो यह है कि मंत्रित्व पाने का उद्योग सभा की शुभ-कामना से प्रेरित नहीं था। वह तो ईर्ष्या-द्वेष के भावों से प्रभावित था। कुछ महीनों तक यह क्रम चला। पर जब सभा के टूट जाने की आशंका हुई तो बाबू राधाकृष्णदास, बाबू कार्तिकप्रसाद, पंडित जगन्नाथ मेहता आदि ने मिलकर बाबू देवकीनंदन से कहलाया कि या तो आप मंत्रित्वपद से त्याग-पत्र दे दीजिए या हम लोग सभा करके दूसरा मंत्री चुनेंगे। बाबू देवकीनंदन खत्री ने त्याग-पत्र देने में ही अपनी प्रतिष्ठा समझी। अस्तु, अब बाबू राधाकृष्णदास मंत्री चुने गए। मंत्रित्व से मेरा कोई साक्षात् संबंध न रहने पर भी मैं बाबू राधाकृष्णदास की निरंतर सहायता करता रहा।

एक काम जो इस वर्ष में हुआ वह उल्लेख योग्य है। मेरे उद्योग से बाबू गदाधरसिंह ने, जो अब पेंशन लेकर काशी आ गए थे, अपना आर्यभाषापुस्तकालय सभा के नागरी-भंडार में संमिलित कर देने का निश्चय किया। इसके लिये एक उपसमिति बनाई गई जिसके स्थायी मंत्री बाबू गदाधरसिंह चुने गए। अब सभा का कार्यालय नेपाली खपरे से उठकर बुलानाले पर आया और पुस्तकालय नित्य निश्चित समय पर खुलने लगा।

इस वर्ष मेरा पहला मौलिक लेख शाक्यवंशीय गौतम बुद्ध के नाम से नागरी-प्रचारिणी पत्रिका में प्रकाशित हुआ। अब तक जो लेख छपे थे वे अनुवाद थे।

इस वर्ष के अंत और पाँचवें वर्ष के आरंभ में २८ जुलाई १८९७ को सभा का वार्षिकोत्सव मनाया गया। इसके सभापति काशी के कलक्टर मि० काब थे। इन्होंने अपने अंतिम भाषण में नागरी-अक्षरों की बड़ी निंदा की। यह मुझसे न सहा गया। मैंने उन्हें धन्यवाद देते हुए उनके कथन का खंडन किया। किसी ने यह समाचार जाकर मेरे चाचा साहब को दिया। वे बहुत घबराए। सभा में आने का तो उनका साहस न हुआ पर घर पर जाकर वे बहुत बिगड़े। कहने लगे कि यह लड़का अपने मन का हुआ जाता है। किसी दिन यह आप तो जेल जायगा ही हम लोगों को भी हथकड़ी-बेड़ी पहना देगा। उस समय की स्थिति कुछ ऐसी ही थी। लोग अँगरेजों से बड़े भयभीत रहते थे। उनकी बात का खंडन करना तो असंभव बात थी। पर अब स्थिति में बड़ा परिवर्त्तन हो गया है।

(३)

अदालतों में नागरी

पाँचवें वर्ष से सभा उन्नति के मार्ग पर अग्रसर हुई। सन् १९०० तक पहुँचते पहुँचते उसने कई उपयोगी कार्य आरंभ कर दिये और बहुत कुछ प्रतिष्ठा तथा सम्मान प्राप्त किया। सबसे महत्त्व का कार्य अदालतों में नागरी-अक्षरों के प्रचार का उद्योग था। पंडित मदन-मोहन मालवीय ने Court Character and Primary Education in the N.-W. Provinces and Oudh. घोर परिश्रम तथा प्रशंसनीय लगन के साथ तैयार कर लिया था। इसका संक्षेप

मैंने 'पश्चिमोत्तर प्रदेश तथा अवध में अदालती अक्षर और प्राइमरी शिक्षा' नाम से लिखा था जो नागरी-प्रचारिणी पत्रिका में छपा और जिसकी अलग प्रतियाँ छाप कर बाँटी गईं। मालवीय जी ने इस संक्षेप को देखकर अपनी प्रसन्नता प्रकट की थी और सुंदर वाक्यों में हम लोगों का उत्साह बढ़ाया था। अब मेमोरियल देने की तैयारी हुई। एक डेपुटेशन बनाया गया जिसमें प्रांत भर के प्रमुख प्रमुख १७ व्यक्ति थे। इस डेपुटेशन के द्वारा २ मार्च सन् १८९८ को इलाहाबाद के गवर्नमेंट हाउस में सर एंटोनी मेकडानेल को मेमोरियल दिया गया। मेमोरियल में मुख्यत: यह बात कही गई थी कि अदालतों में नागरी-अक्षरों का प्रचार न होने से प्रजा, विशेषकर ग्रामीण प्रजा, को बड़ी असुविधा और कष्ट होता है तथा आरंभिक शिक्षा के प्रचार में बाधा उपस्थित होती है।

उत्तर में सर एंटोनी ने विषय की गुरुता का स्वीकार करते हुए कहा कि "आप लोग जिस परिवर्त्तन के लिए प्रार्थना करते हैं वह वास्तव में उस भाषा का परिवर्त्तन नहीं है जो हमारी अदालतों और सरकारी कागजों में बरती जाती है। आप लोग उन अक्षरों के परिवर्त्तन के लिए प्रार्थना करते हैं जिनमें वह भाषा लिखी जाती है। वह भाषा जो हमारी अदालतों और सरकारी कागजों में लिखी जाती है कठिन और फारसी शब्दों से पूर्ण हो सकती है और उसके सरल करने का उद्योग आवश्यक हो सकता है, पर वास्तव में वह भाषा हिंदी है, जिसे इन प्रांतों की प्रजा का बहुत बड़ा अंश बोलता है। परंतु यदि हमारी अदालतों की भाषा हिंदी है तो जिन अक्षरों में वह

लिखी जाती है वे फारसी हैं और आप लोगों का यह प्रस्ताव है कि फारसी के स्थान पर नागरी-अक्षरों का (आप लोग कैथी-अक्षरों को पसंद नहीं करते) जिस में हिंदी साधारणतः लिखी जानी चाहिए, प्रचार किया जाय। इसमें कोई संदेह नहीं कि इस प्रस्ताव के पक्ष में बहुत कुछ कहा जा सकता है। इन प्रांतों में चार करोड़ सत्तर लाख मनुष्य बसते हैं और जो अनुसंधान-प्रसिद्ध भाषातत्त्व-वेत्ता डाक्टर ग्रियर्सन प्रत्येक जिले में भाषाओं की जाँच के संबंध में कर रहे हैं, उससे यह प्रकट होता है कि इन चार करोड़ सत्तर लाख मनुष्यों में से चार करोड़ पचास लाख मनुष्य हिंदी या उसकी कोई बोली बोलते हैं। अब यदि चार करोड़ पचास लाख मनुष्य उस भाषा को लिख भी सकते जिसे वे बोलते हैं तो निस्संदेह फारसी के स्थान पर नागरी-अक्षरों का प्रचलित किया जाना अत्यंत ही आवश्यक होता, पर इन चार करोड़ पचास लाख मनुष्यों में से तीस लाख से कुछ कम लोग लिख और पढ़ सकते हैं और इन शिक्षित लोगों में से, यदि मैं उन्हें ऐसा कह सकूँ, तो एक अच्छा अंश मुसलमानों का है जो उर्दू बोलते और फारसी-अक्षरों का व्यवहार करना पसंद करते हैं।" इसके पश्चात् प्राइमरी शिक्षा के बढ़ाने और उसके साथ ही नागरी या कैथी जाननेवालों की संख्या के बढ़ाने तथा सरकारी कर्मचारियों के नागरी जानने की आवश्यकता का उल्लेख करके श्रीमान् ने कहा, "मेरे इस कहने से आप लोग समझ सकते हैं कि यद्यपि मैं नागरी-अक्षरों के विशेष प्रचार के पक्ष में हूँ, पर मैं इस बात का कह देना उचित समझता हूँ कि जितनी आप लोग समझते

हैं उससे अधिक आपत्तियाँ इसके पूर्ण प्रचार की अवरोधक हैं।" बिहार में कैथी-अक्षरों के प्रचार में जो कठिनाइयाँ पड़ी थीं उनका वर्णन करके उन्होंने कहा—"मेरा सिद्धांत यह है कि यद्यपि मैं यह समझता हूँ कि हमारे सरकारी कागजों में नागरी-अक्षरों के विशेष प्रचार से लाभ होगा और समय भी इस परिवर्त्तन के पक्ष में है पर मैं ऐसा कोई आवश्यक या उचित कारण नहीं देखता कि क्यों हम लोग शीघ्रता करें अथवा क्यों न हम लोग विचारपूर्वक और उन लोगों के हित और भावों पर, जो इस परिवर्त्तन के विरोधी हैं, उचित ध्यान देकर इस कार्य को करें। मुसलमान लोग, जैसा कि आप लोग अनुमान करते हैं, इस परिवर्त्तन का विरोध करेंगे और अभी तक आप लोगों ने उन लोगों का विरोध दूर करने और उन्हें अपने पक्ष में लाने के लिए कोई ऐसा कार्य नहीं किया है जिससे यदि वे आपके विचारों से सहमत न हों तो कम से कम वे आपस में निपटारा तो कर लें। इसमें और उन बातों में, जिनमें परस्पर विरोध है हम लोगों को दूरदर्शिता पर ध्यान देकर यह देखना चाहिए कि कोई ऐसा बीच का उपाय हो सकता है या नहीं जिससे दोनों ओर का विरोध दूर हो जाय। इस अवसर पर इस विषय में अपनी नीति को प्रकाशित किये बिना अथवा किसी विशेष शैली के अनुसार कार्य करने की प्रतिज्ञा किये बिना मैं यह कहना चाहता हूँ कि हम लोगों का संबंध तीन प्रकार के कागजों से है। एक तो वे कागज हैं जिन्हें प्रजा गवर्नमेंट की सेवा में उपस्थित करती है। दूसरे वे जिन्हें गवर्नमेंट प्रजा के लिये निकालती है और तीसरे वे जिनमें सरकारी

कार्रवाइयाँ लिखी जाती हैं और जो सरकारी दफ्तरों में रक्षित रहते हैं। तीसरे प्रकार के कागज अर्थात् वे कार्रवाइयाँ जो सरकारी दफ्तरों में रक्षित रहती हैं, और पहले दो प्रकार के कागजों से कुछ भिन्न हैं। निस्संदेह प्रजा का संबंध उन अक्षरों से है जिनमें वे कार्रवाइयाँ लिखी जाती हैं, क्योंकि उनको ऐसी कार्रवाइयों की नकल लेनी पड़ती है जो बहुधा स्वत्व और दावों के प्रमाण होते हैं, परंतु इनका काम वकीलों की सम्मति के साथ विशेष अवसरों पर पड़ता है। प्रतिदिन के कार्यों के अंतर्गत वे नहीं आते। इसलिए इन कागजों के विषय में निश्चय करना उतना आवश्यक नहीं है जितना दूसरे दो प्रकार के कागजों के विषय में है। इस अवसर पर इस बात पर मैं अपनी सम्मति नहीं प्रकाशित करूँगा कि किन अक्षरों में इन कागजों को लिखा जाना चाहिए किंतु मैं यह कह देता हूँ कि मुझे इन कागजों को लिखने के लिए रोमन-अक्षरों के व्यवहार के विरोध करने के लिये कोई उचित कारण नहीं देख पड़ता। दूसरे दो कागजों के विषय में मेरा यह विचार है कि यह उचित नहीं है कि ऐसा पुरुष जो नागरी लिख सकता हो गवर्नमेंट के पास भेजने के लिये अपने आवेदन-पत्र या मेमोरियल को फारसी-अक्षरों में लिखवाने का कष्ट सहन करे। यह भी अनुचित जान पड़ता है कि एक ऐसी सरकारी आज्ञा जो ऐसे गाँवों के लिये निकाली जाय जहाँ के रहनेवाले हिंदी बोलते हों, फारसी-अक्षरों में लिखी हो, जिसे उस गाँव में कोई भी न पढ़ सके। ऐसे प्रबंध का करना असंभव न होना चाहिए जिसमें हिंदी या उर्दू बोलनेवालों में से

सबको अपने आवेदन-पत्रों को गवर्नमेंट तक पहुँचाने में तथा गवर्नमेंट की इच्छाओं को जानने में सुभीता हो और किसी प्रकार का कष्ट या व्यय न सहन करना पड़े। इस प्रकार के प्रबंध से (यदि हो सके तो) यद्यपि वे सब बातें प्राप्त न होंगी जिन पर आप लोगों का तथा इस मेमोरियल के दूसरे सहायकों का लक्ष्य है। तथापि उनसे कुछ बातें प्राप्त होंगी और गवर्नमेंट को उस बात को पूर्णतया निश्चित करने का उपाय सोचने का समय मिलेगा। इस बात को समझ लेना चाहिए कि ३०० वर्षों से जो कार्य होता आ रहा है वह एक दिन में नहीं हट सकता। मैं समझता हूँ कि बादशाह अकबर के पहले भारतवर्ष के इस भाग में सब राजकीय तथा घरेलू कामों में हिंदी भाषा और नागरी-अक्षरों का व्यवहार था।" अंत में श्रीमान् ने अकबर के समय से फारसी के प्रचार का उल्लेख करके (यद्यपि यह कार्य अधिकांश लोगों के सुभीते का ध्यान करके नहीं किया गया था।) कहा—"हम लोगों को जो कुछ करना है वह पूरी जाँच और विचार करके ही करना चाहिए।"

इस मेमोरियल के साथ में लगभग ६० हजार हस्ताक्षर १६ जिल्दों में बाँध कर दिये गये थे जिन्हें सभा के एजेंटों ने मिर्जापुर, गाजीपुर, बलिया, गोरखपुर, गोंडा, बहराइच, बस्ती, फैजाबाद, लखनऊ, कानपुर, बिजनौर, इटावा, मेरठ, सहारनपुर, मुजफ्फरनगर, झाँसी, ललितपुर, जालौन, काशी, इलाहाबाद आदि नगरों में घूम घूम कर प्राप्त किया था।

यहाँ पर मैंने सर एंटोनी के उत्तर का अधिकांश भाग उद्धृत

किया है। इसका मुख्य कारण यह है कि अदालतों में नागरी-प्रचार के लिये बहुत वर्षों से उद्योग हो रहा था। भारतेंदु हरिश्चंद्र ने हंटर कमिशन के समय में इस कार्य के लिये उत्कट प्रयत्न किया था, पर उन्हें सफलता प्राप्त नहीं हुई थी। इस उद्योग में अब की सफलता का बीजारोपण हो गया। इसलिए इस युग-प्रवर्त्तक घटना का पूरा उल्लेख हो जाना आवश्यक है। इस उद्योग के संबंध में कुछ और बातें हैं जिनका अभी तक कहीं उल्लेख नहीं हुआ है। अतएव, उनको यहाँ संक्षेप में कह देना उचित जान पड़ता है।

जब इस मेमोरियल के देने की तैयारी हो रही थी तब मैंने डाक्टर ग्रियर्सन से पत्र-द्वारा यह प्रार्थना की थी कि वे किसी प्रसिद्ध समाचार-पत्र में नागरी-प्रचार के पक्ष में अपनी सम्मति प्रकाशित कर दें। उन्होंने उस समय तो कोई उत्तर नहीं दिया पर सर ऐंटोनी के उत्तर दे लेने पर उन्होंने लिखा कि "यद्यपि सामाचार-पत्र में नागरी के पक्ष में कुछ लिखने की तुम्हारी प्रार्थना को मैं स्वीकार न कर सका, पर अब तुमको मालूम हो गया होगा कि परोक्ष रूप से मैंने तुम्हारे पक्ष का समर्थन किया है जिसका प्रभाव समाचार-पत्र में लेख लिखने की अपेक्षा कहीं अधिक होगा।"

जिस दिन मेमोरियल दिया गया उस दिन बाबू राधाकृष्णदास की तथा मेरी प्रबल इच्छा थी कि गवर्नमेंट हाउस में जाकर इस दृश्य को देखें। मुंशी गंगाप्रसाद वर्मा की कृपा से हम लोगों को प्रेस-पास मिल गये और हम लोग जा सके।

वहाँ से लौटने पर बाबू राधाकृष्णदास ने त्रिवेणी में स्नान करके

यह मनौती मानी कि यदि अदालतों में नागरी का प्रचार हो गया तो मैं आकर तुम्हें दूध चढ़ाऊँगा। इस मनौती को उन्होंने यथा-समय पूरा किया। इससे उनके धार्मिक भाव तथा नागरी और हिंदी के लिये उत्कट प्रेम का परिचय मिलता है।

जब डेपुटेशन भेजने की तैयारी हो रही थी तब उसमें सभा के भी एक प्रतिनिधि के सम्मिलित करने का निश्चय हुआ। सभा ने बाबू राधाकृष्णदास को अपना प्रतिनिधि चुना। पर पंडित मदन-मोहन मालवीय को यह स्वीकार न था। सभा के और मालवीय जी के विचार में बड़ा अंतर था। सभा यह चाहती थी कि जिसने काम किया है उसे ही सम्मान देना चाहिए, पर मालवीय जी के हृदय में दूसरे भाव थे। उनका डेपुटेशन राजाओं, रायबहादुरों और प्रसिद्ध रईसों का था। मालवीय जी के जीवन पर एक साधारण दृष्टि डालने से यह बात स्पष्ट हो जाती है कि उनके हृदय में राजाओं, रईसों आदि के लिये अधिक सम्मान का भाव रहा है। यही कारण है कि उन्हें हिंदू-विश्व-विद्यालय की स्थापना में इतनी सहायता मिली कि वे अपने स्वप्न को प्रत्यक्ष रूप दे सके।

अस्तु, समस्या सामने उपस्थित थी, उसके हल करने का एक-मात्र उपाय यही था कि स्वयं मालवीय जी को सभा का प्रतिनिधि बनाया जाय। ऐसा ही किया गया और इसका परिणाम यह हुआ कि मालवीय जी ने नागरी-प्रचार के लिये जो अथक परिश्रम और प्रशंसनीय उद्योग किया था उसका बहुत कुछ श्रेय काशी-नागरी-प्रचारिणी सभा को उनके प्रतिनिधित्व स्वीकार करने से प्राप्त हो गया।

नवंबर १८९८ की बात है जब बाबू राधाकृष्णदास और मैं मालवीय जी से परामर्श करने के लिये प्रयाग गए थे। बातों ही बातों में मालवीय, जी ने कहा कि सर एंटोनी मैकडानेल इस प्रांत के पश्चिमी जिलों का दौरा करनेवाले हैं और ऐसा पता लगा है कि वे नागरी-प्रचार के प्रश्न पर जनता की वास्तविक सम्मति जानने के इच्छुक हैं। अतएव, यह आवश्यक है कि कोई आदमी इन जिलों की यात्रा करके वहाँ नागरी-प्रचार के पक्ष में जनता का बहुमत प्राप्त करने का उद्योग करे। बहुत विचार के अनंतर यह निश्चय हुआ कि मैं कल ही इस यात्रा पर चला जाऊँ और लखनऊ से बाबू कृष्णबलदेव वर्मा को ले लूँ। बाबू कृष्णबलदेव को तार दिया गया और मेरी यात्रा की तैयारी होने लगी। बाबू राधाकृष्णदास ने अपना नौकर और एक रजाई मुझे दी और भारतीभवन के संस्थापक बाबू ब्रजमोहनलाल से १००) रु० उधार लेकर यात्रा-व्यय के लिये मुझे दिया गया। मैं लखनऊ के लिये चल पड़ा। स्टेशन पर बा० कृष्ण-बलदेव वर्मा मिले, पर उन्होंने जाना स्वीकार न किया। उस रात को मैं लखनऊ ठहर गया और वर्मा जी को समझाता और उत्साहित करता रहा। अंत में वे तैयार हो गए और दूसरे दिन हम लोग शाहजहाँपुर के लिये चल पड़े। वहाँ से बरेली, मुरादाबाद, सहारन-पुर, मेरठ, मुजफ्फरनगर, अलीगढ़, आगरा, मथुरा होते हुए कोई एक महीने में घर लौटे। सब स्थानों में हम लोग प्रमुख प्रमुख व्यक्तियों से मिले, अपना उद्देश्य बताया और नागरी के प्रचार और संरक्षण के लिये एक संघटन स्थापित किया। यह यात्रा

बड़ी सफल हुई। जिस उद्देश्य से हम लोग गए थे वह पूरा हुआ।

इस स्थान पर मैं पंडित केदारनाथ पाठक की सेवाओं का संक्षेप में उल्लेख करना चाहता हूँ। ये हिंदी के बड़े पुराने भक्तों और सेवकों में थे। इन्होंने सभा के पुस्तकालय का कार्य अनेक वर्षो तक बड़ी लगन के साथ किया था। वे सच्चे हृदय से सभा की शुभ कामना करते थे। नागरी के आंदोलन के समय इन्होंने अनेक नगरों में घूमकर मेमोरियल के समर्थन में सर्वसाधारण जनता के हस्ताक्षर प्राप्त किए थे और उस कार्य में उन्हें पुलिस की हिरासत में भी रहना पड़ा था। पाठक जी का परिचय बहुत-से हिंदी-लेखकों से था। यदि वे अपने संस्मरण लिख जाते तो वे बड़े मनोरंजक होते।

यह आंदोलन दो वर्षों तक चलता रहा। अंत में गवर्नमेंट ने यह निश्चय किया कि (१) सब मनुष्य प्रार्थनापत्रादि अपनी इच्छा के अनुसार नागरी या फारसी-अक्षरों में दे सकते हैं, (२) सब समन, सूचना-पत्र और दूसरे प्रकार के पत्रादि जो सरकारी न्यायालयों या प्रधान कर्मचारियों की ओर से देश-भाषा में प्रचारित किए जाते हैं फारसी और नागरी-अक्षरों में जारी होंगे और इन पत्रों में उस भाग की खानापूरी भी नागरी में उतनी ही होगी जितनी फारसी-अक्षरों में की जाय और (३) ऐसे दफ्तरों को छोड़कर जहाँ केवल अँगरेजी में काम होता है कोई मनुष्य इस आज्ञा के पीछे न नियुक्त किया जायगा यदि वह हिंदी और उर्दू दोनों न जानता होगा और जो इस समय के बीच में नियुक्त किया जायगा और इन दोनों भाषाओं में

से केवल एक को जानता होगा दूसरी को नहीं, उसे नियुक्त होने की तारीख के एक वर्ष में दूसरी भाषा को जिसे वह न जानता होगा भली भाँति सीख लेना होगा।

इस प्रकार उद्योग में सफलता प्राप्त हुई। गवर्नमेंट ने तो अपना कर्त्तव्य पूरा कर दिया पर हम लोगों में जो शिथिलता और स्वार्थ-परता भरी हुई है उसके कारण हम इस आज्ञा से यथेष्ट लाभ अभी तक नहीं उठा सके हैं। इसमें संदेह नहीं कि कुछ वकीलों, रईसों, जमींदारों तथा अन्य लोगों ने अपना सब काम नागरी में करने की अपूर्व दृढ़ता दिखाई है, और कुछ राजों ने अपने राज्य के दफ़्तरों और कचहरियों में नागरी का पूर्ण प्रचार करके प्रशंसनीय कार्य किया है, पर अभी बहुत कुछ करने को बाकी है। इस समय तो हम अपने घर की सुध भूल कर मद्रास और आसाम तक दौड़ लगाने का प्रयत्न कर रहे हैं पर जब तक चिराग तले अँधेरा बना रहेगा तब तक स्थिति के पूर्णतया सुधरने की बहुत कम आशा है।

जैसा कि मैं पहले लिख चुका हूँ, मार्च सन् १८९८ में मेरी नियुक्ति सेंट्रल हिंदू स्कूल में हुई। पहले मैं असिस्टेंट मास्टर हुआ। कुछ दिनों पीछे असिस्टेंट हेड मास्टर बनाया गया। मुझे भली भाँति स्मरण है कि एक दिन प्रातःकाल बाबू सीताराम शाह अपने बड़े भाई बाबू गोविंददास का यह संदेशा लेकर आए कि यदि हिंदू स्कूल में काम करना चाहते हो तो आरंभ में ४०) रु० मासिक वेतन मिलेगा और आज तुम इस काम को आरंभ कर सकते हो। मैंने इस प्रस्ताव को धन्यवाद के साथ स्वीकार किया और उस दिन

जाकर कार्य-भार ले लिया। इस स्कूल के पहले हेड मास्टर मिस्टर हैरी बैनबरी हुए। वे दक्षिण-अफ्रिका से भारतवर्ष में आए थे। वे अपने कार्य में दक्ष थे पर उनकी शिष्टता और संस्कृति अफ्रिका के डच बुअरों-सी थी और इससे वे लोगों का स्नेह और संमान अर्जन न कर सके। धीरे धीरे यह बात प्रबंध-कमेटी पर भी प्रकट हो गई और उसने उद्योग करके उन्हें लखनऊ के गवर्नमेंट जुबिली हाई स्कूल की हेड मास्टरी दिला दी। इसके अनंतर मिस्टर जी० एस० आरनडेल हेड मास्टर नियत हुए। वे एक संभ्रांत स्काच कुल के संपन्न व्यक्ति थे। शिष्टता और सदाचार तथा संस्कृति के विचार से वे आदर्श कहे जा सकते हैं। आजकल वे मदरास में रहते हैं और थियोसोफिकल सोसाइटी के प्रेसिडेंट हैं। इनके कार्य-काल में स्कूल ने बड़ी उन्नति की और उसका यश चारों ओर फैल गया। मिस्टर आरनडेल ने मुझसे स्पष्ट कह दिया था कि मेरा काम पढ़ाना-लिखाना नहीं है और न स्कूल का प्रतिदिन का कार्य करना है। यह सब तुमको करना होगा और मैं केवल इस उद्योग में लगा रहूँगा कि भारतीयों के हृदय में मेरे तथा ब्रिटिश जाति के लिये स्नेह और संमान हो। ऐसा ही हुआ। वे भारतीयों के अपमान को नहीं सह सकते थे और सदा उनका समथन करने को उद्यत रहते थे। इस कार्य में गवर्नमेंट के अधिकारियों से उनकी मुठभेड़ भी हो गई। अस्तु, स्कूल का सब काम मेरे अधिकार में रहा। इसमें कई कठिनाइयाँ भी हुईं पर वे सुलझती गईं। इस प्रकार कई वर्षों तक काम चलता रहा।

सन् १८९८, ९९ और १९०० में सभा ने कई महत्त्वपूर्ण

कार्यों का श्रीगणेश किया जिनका वर्णन मैं यहाँ करना चाहता हूँ। इनमें मुख्य मुख्य बातें ये हैं—हिंदी-लेख और लिपि-प्रणाली पर विचार, वैज्ञानिक कोष, रामचरितमानस, सरस्वती और हस्तलिखित हिंदी-पुस्तकों की खोज। इन सब कामों का श्रीगणेश १९०० से पहले ही हो चुका था और इनका स्पष्ट रूप सन् १९०० में प्रकट हुआ। अब मैं पुनः सभा का मंत्री हो गया था। सन् १९०० के पहले सभा ने इंडियन प्रेस के लिये भाषा-पत्रबोध, भाषा-सार-संग्रह भाग १ और २ तथा खेती-विद्या की पहली पुस्तक तैयार की। यहाँ एक बात का उल्लेख कर देना कदाचित् अनुचित न होगा। जब भाषा-सार-संग्रह तैयार हुआ तब मेरी बड़ी उत्कट कामना थी कि इस पुस्तक पर और लोगों के साथ मेरा भी नाम रहे। पर इंडियन प्रेस के स्वामी ने इसे स्वीकार न किया। पुस्तक पर किसी का नाम न दिया गया। लेखक के स्थान पर केवल 'सभा के पाँच सभासदों-द्वारा-रचित' लिखा गया। इसके बहुत वर्षों पीछे वह समय भी आया जब प्रकाशकों ने केवल मेरा नाम छापने की अनुमति देने के लिये मुझे बहुत कुछ लालच दिया। यह समय का प्रभाव है कि जब किसी वस्तु के प्राप्त करने की लालसा होती है तब वह नहीं प्राप्त होती, पर जब लालसा नष्ट हो जाती है तब वह सहसा प्राप्त हो जाती है।

(४)

हिंदी-वैज्ञानिक कोष

सभा की वार्षिक रिपोर्टों के देखने से यह विदित होगा कि सभा आरंभ से ही वैज्ञानिक ग्रंथों के हिंदी में बनने की आवश्यकता का

अनुभव करती आई है। उसने कई वैज्ञानिक लेखों को अपनी पत्रिका में छापा भी, पर सबसे बड़ी कठिनाई जो सामने आती थी वह वैज्ञानिक शब्दों के हिंदी-पर्यायों का न मिलना है। भिन्न-भिन्न लेखक अपने अपने विचार के अनुसार शब्द गढ़ते हैं, आगे चल कर इसका यह परिणाम होगा कि एक शब्द के लिये अनेक पर्याय हो जायँगे तब इस स्थिति को सँभालना कठिन हो जायगा और हिंदी के वैज्ञानिक साहित्य में जो गड़बड़ी होगी उससे हिंदी को भारी धक्का पहुँचने की आशंका है। अतएव सभा ने एक वैज्ञानिक कोष तैयार करने का आयोजन किया। इस काम के लिये एक छोटी कमेटी बनाई गई जिसका संयोजक मैं चुना गया। यहाँ पर इसके पूर्व का कुछ इतिहास दे देना उचित होगा।

भारतवर्ष में जातीय शिक्षा का प्रश्न भारत-गवर्नमेंट के सामने सदा से रहा है। सन् १७८१ में कलकत्ते में कलकत्ता-मदरसा की और उसके कुछ काल उपरांत काशी में संस्कृत-कालेज की स्थापना इस उद्देश्य से की गई जिसमें न्याय-विभाग के लिये हिंदू और मुसलमान न्याय-पद्धति को जाननेवाले उपयुक्त व्यक्ति मिल सकें। इसके कुछ वर्षों पीछे इस बात की चर्चा चली कि शिक्षा का माध्यम अँगरेजी हो या देश-भाषाएँ। सन् १८३५ की ७ मार्च को लार्ड विलियम बेनटिंक ने यह आज्ञा घोषित की कि शिक्षा का माध्यम अँगरेजी होगी और पश्चिमीय विद्याओं को प्रमुख स्थान दिया जायगा। इसके अनंतर सन् १८५४ में लार्ड हालीफैक्स ने कोर्ट आफ डाइरेक्टर्स की ओर से उन सिद्धांतों को स्पष्ट किया जिसके

आधार पर भारतवर्ष में शिक्षा-प्रणाली का आयोजन हुआ। इस आज्ञा-पत्र में यह स्पष्ट कहा गया कि जन साधारण की शिक्षा का माध्यम अँगरेजी भाषा को बनाने के मार्ग में कई कठिनाइयाँ हैं और भारतीय जन साधारण की शिक्षा उनकी मातृभाषा-द्वारा ही भली भाँति हो सकती है। उस आज्ञा-पत्र के नीचे लिखे वाक्य बड़े महत्त्व के हैं—

"It is neither our aim nor desire to substitute the English language for the vernacular dialects of the country. We have always been most sensible of the importance of the use of the languages which alone are understood by the great mass of the population. These languages and not English have been fixed by us in the place of Persian in the administration of justice and in the intercourse between the officers of Government and the people. It is indispensable, therefore, that in any general system of education the study of them should be assiduously attended to and any acquaintance with improved European knowledge which is to be communicated to the great mass of the people—whose circumstances prevent them from acquiring a higher order of education and who cannot be expected to overcome the difficulties of a foreign language—can only be conveyed to them through one or other of these vernacular languages.

In any general system of education the English language should be taught where there is a demand for it, but such instructions should always be continued with a careful attention to the study of the vernacular language of the district and with such general instruction as can be conveyed through that language; and while the English language continues to be made use of, as by far the most perfect medium for the education of those persons who have acquired a sufficient knowledge of it to receive general instruction through it, the vernacular languages must be employed to teach for the larger class who are ignorant of or imperfectly acquainted with English. This can only be done effectually through the instrumentality of masters and professors who may by themselves knowing English, and thus having full access to the latest improvements in knowledge of every kind, impart to their fellow countrymen, through the medium of their own mother-tongue, the information which they have thus obtained. At the same time as the importance of the vernacular language becomes more appreciated, the vernacular literature of India will be gradually enriched by translation of European books or

by the original composition of men whose minds have been imbued with the spirit of European advancement, so that European knowledge may gradually be placed in this manner within the reach of all classes of the people. We look, therefore, to the English language and to the vernacular languages of India together as the media for the diffusion of European knowledge and it is our desire to see them cultivated together in all schools in India of a sufficienly high class to maintain a school master possessing the requisite qualifications."

सन् १८५४ के आज्ञा-पत्र से ऊपर जो अंश उद्धृत किया गया है उसमें प्रतिपादित सिद्धांतों के अनुसार यदि भारतवर्ष के अँगरेज शासक अपनी नीति को काम में लाते तो इन ९० वर्षों में भारतीय भाषाओं की विशेष उन्नति हो गई होती। पर इस ओर गवर्नमेंट का सदा उपेक्षा का भाव रहा। उसने कभी सचाई से इस बात का उद्योग नहीं किया कि देशी भाषाओं के भांडार की पूर्ति हो। उसे तो सदा इस बात का भय रहा कि इन भाषाओं की उन्नति से कहीं अँगरेजी को धक्का न पहुँचे। भाषा ही एक ऐसा अस्त्र है जिसके द्वारा किसी जाति का भाव बदला जा सकता है। जब से हमारे देशी लोगों के हाथ में शिक्षा का प्रबंध आया है तब से इस भाव में परिवर्त्तन हो गया। अब तो यह लक्ष्य सामने रखा गया है कि सब प्रकार की शिक्षा मातृभाषा-द्वारा दी जाय। इस लक्ष्य को

सामने रखकर पहले पहल सर आशुतोष मुकर्जी ने कलकत्ता-विश्वविद्यालय में अनेक देशी भाषाओं की उच्चतम शिक्षा का प्रबंध किया। इसके अनंतर काशी-विश्वविद्यालय में इसका आयोजन किया गया और तब नागपुर-विश्वविद्यालय, इलाहाबाद-विश्वविद्यालय, आगरा-विश्वविद्यालय तथा लखनऊ-विश्वविद्यालय में इसका प्रबंध किया गया है। यह सब होते हुए भी अभी तक हिंदी में वैज्ञानिक ग्रंथों का प्रकाशन नाम-मात्र का है। जैसा कि मैं पहले कह आया हूँ, इसका मुख्य कारण पारिभाषिक शब्दों के पर्यायों की अनिश्चितता है। इस त्रुटि का अनुभव पहले पहल बड़ौदा के महाराज सर सयाजी राव ने किया। उन्होंने अपने कलाभवन से प्रोफेसर टी० के० गज्जर के तत्त्वावधान में मराठी और गुजराती भाषाओं में वैज्ञानिक ग्रंथों के निर्माण और प्रकाशन का आयोजन किया। वहाँ भी प्रोफेसर गज्जर को पारिभाषिक शब्दों के अभाव ने व्यस्त किया। सन् १८९१-९२ की कलाभवन बड़ौदा की वार्षिक रिपोर्ट में प्रोफेसर गज्जर अपनी कठिनाई का उल्लेख इस प्रकार करते हैं—

The reason why but few books were received at the end of the academic year seems to be the want of suitable words—the difficulty of coining appropriate technical terms. I have found that the task I have undertaken is one of very great difficulty, and I believe, it will be years before I can successfully accomplish it. The transference of European knowledge to this country

involves the search and creation of adequate words to signify all kinds of European ideas. Language is said only to grow; but here is a question of making it on a large scale. During the year under report I began to prepare a vernacular Thesaurus on the model of Roget's well-known work. I found that the existing Anglo-Sanskrit and Anglo-Vernacular dictionaries did but meagre justice to scientific subjects. I saw in them all a want of precision and a want of that convenience which words must have before they can be used with profit. The lexicographer did not seem to have always borne in mind that words were but though-tgerms and must have certain qualities before they can prove fruitful, that they must be easily portable, *i. e.*, neither stiff nor cumbruous, and very easy to pronounce, if they were meant to be extensively used and that as far as possible they should convey their technical meaning by their structure. Upto the end of the academic year the search and coinage of words continued, when experience suggested an improvement in the system. I saw the importance of giving the authorities with the words selected (in an abbreviated form), and found that the works, written on different

subjects, in different parts of India by different men at different times if examined, would yield a large number of ready-made words which will make the task of selection far easier than it was.

परंतु प्रोफेसर गज्जर को यह काम उतना सरल नहीं प्रतीत हुआ जितना कि उन्होंने आशा की थी। अगले वर्ष (१८९२-९३) की रिपोर्ट में वे अपने अनुभव का वर्णन इस प्रकार करते हैं—

In the last year's report, I dwelt at some length on the importance and difficulties of finding out suitable technical terms to be used in the vernacular scientific treatise. Events proved this difficulty to be even greater than it was at first imagined. Eminent specialists, some of whom were well-known Sanskritists, could not send their works for want of words, some could not begin at all. I had therefore to expedite the search and coinage of words. The Thesaurus attempt had to be laid aside for a time and the existing dictionaries of the principal languages in India, *viz.*, Gujrati, Marathi, Bengali, Hindustani, besides Sanskrit and Persian, had to be laid under contribution. The Manjuṣā Department took up Webster's International dictionary, posted up the scientific words on large folios printed for the purpose and wrote out the corresponding words in the above-mentioned languages opposite to

them. As mentioned in the last report, the standard works in the principal languages of India were also utilized. But though this research work continued rapidly and though existing works in Sanskrit and other languages gave a large collection of useful words for different sciences, a greater number remained to be coined and that work was not easy.

इसके थोड़े दिनों पीछे प्रोफेसर गज्जर का संबंध बड़ौदा के कलाभवन से छूट गया और यह वैज्ञानिक शब्दचयन का कार्य अधूरा रह गया। फिर उसके पूरा करने का कोई उद्योग नहीं हुआ।

इसके अनंतर वंगीय साहित्य-परिषद् ने इस काम को अपने हाथ में लिया और कई विज्ञानों के पारिभाषिक शब्दों का संग्रह परिषद्-पत्रिका में प्रकाशित हुआ। पर आपस में मतभेद हो जाने तथा वंगीय साहित्य-सभा नामक एक नई संस्था के स्थापित हो जाने से यह काम यहीं रुक गया।

तीसरा संगठित उद्योग काशी-नागरी-प्रचारिणी सभा ने सन् १८९८ में आरंभ किया। उसने वैज्ञानिक शब्दों का एक कोष बनाने के लिये एक उपसमिति बनाई। इस समिति ने यह निश्चय किया कि आरंभ में भूगोल, गणित, ज्योतिष, अर्थशास्त्र, पदार्थ-विज्ञान, रसायन-शास्त्र तथा दर्शन के शब्दों का संग्रह वेबस्टर की डिक्शनरी से किया जाय। इस संग्रह के प्रस्तुत हो जाने और सातों विषयों के शब्दों की अलग अलग सूची लिखकर तैयार हो जाने पर प्रत्येक

शब्द के लिये हिंदी-शब्द चुनने का काम भिन्न भिन्न व्यक्तियों को दिया गया। इस प्रकार शब्द-संग्रह हो जाने पर वे अलग अलग पुस्तकाकार छापे गए और विचार तथा विवेचन के लिये भिन्न भिन्न विद्वानों के पास भेजे गए। इसके अनंतर पंडित माधवराव सप्रे बम्बई तथा पूना की ओर और मैं कलकत्ते की ओर गया। इन तीनों स्थानों के विशिष्ट विशिष्ट विद्वानों से मिलकर परामर्श किया गया और उनकी संमति तथा सहानुभूति प्राप्त की गई। जब सातों शास्त्रों के शब्दों का संग्रह छप गया तब उनके दोहराने के लिये आयोजन किया गया। मध्य प्रदेश, बिहार, संयुक्त प्रदेश तथा पंजाब के शिक्षा-विभागों से सहायता माँगी गई। इन सबने दोहराने के काम के लिये अपने अपने प्रतिनिधि भेजने का वचन दिया और एक समिति इस काम को करने के लिये नियत हुई। इसका अधिवेशन २१ सितम्बर १९०३ को काशी में आरंभ हुआ। इसमें निम्न-लिखित महाशय संमिलित हुए—पंडित विनायकराव—जबलपुर, लाला खुशीराम–लाहौर, लाला भगवतीसहाय—बाँकीपुर, पंडित माधवराव सप्रे—नागपुर, महामहोपाध्याय पंडित सुधाकर द्विवेदी—काशी, बाबू गोविंददास—काशी, बाबू भगवानदास—काशी, बाबू दुर्गाप्रसाद—काशी और मैं। इस समिति के अधिवेशन २९ सितंबर तक होते रहे। समिति ने इस कार्य के लिये निम्न-लिखित सिद्धांत स्थिर किए।

(१) पारिभाषिक शब्दों को चुनने के लिये उपयुक्त हिंदी-शब्दों को पहला स्थान दिया जाय।

(२) इन शब्दों के अभाव में मराठी, गुजराती, बँगला और उर्दू के उपयुक्त शब्द ग्रहण किए जायँ।

(३) इनके अभाव में पहले संस्कृत के शब्द ग्रहण किए जायँ, तब अँगरेजी के शब्द रखे जायँ और अंत में संस्कृत के आधार पर नए शब्द निर्माण किए जायँ।

इन सिद्धांतों को सामने रखकर भूगोल, गणित, ज्योतिष और अर्थशास्त्र के शब्द दोहरा कर ठीक किए गए। दार्शनिक शब्दों को दोहरा कर ठीक करने के लिये बाबू भगवानदास, बाबू इंद्रनारायण-सिंह, बाबू वनमाली चक्रवर्त्ती तथा पंडित रामावतार पांडे की एक उपसमिति बनाई गई और अर्थशास्त्र के बचे शब्दों को दुहराने के लिये पंडित माधवराव सप्रे, बाबू गोविंददास और मेरी एक उप-समिति बनाई गई।

इन सब कामों के हो जाने पर बड़ी समिति का दूसरा अधि-वेशन २७ दिसम्बर १९०३ को आरंभ हुआ और वह ८ जनवरी सन् १९०४ तक चलता रहा। इसमें निम्नलिखित महाशय संमिलित हुए—प्रोफेसर टी० के० गज्जर—बंबई, प्रोफेसर अभयचरण सान्याल—काशी, प्रोफेसर एन० बी० रानाडे—बंबई, लाला खुशी-राम—लाहौर, बाबू भगवानदास—काशी, महामहोपाध्याय पंडित सुधाकर द्विवेदी—काशी, बाबू वनमाली चक्रवर्त्ती—कलकत्ता, पंडित रामावतार पांडे—काशी, बाबू भगवतीसहाय—बाँकीपुर, बाबू ठाकुरप्रसाद—काशी, बाबू दुर्गाप्रसाद—काशी और मैं। इन अधिवेशनों में दोहराने का काम समाप्त हुआ और जो थोड़ा-सा

बच रहा उसके लिये एक उपसमिति बनाई गई। भिन्न भिन्न उपसमितियों ने अपना अपना काम समाप्त किया और यह निश्चय हुआ कि सब सामग्री ठीक हो जाने पर प्रत्येक विज्ञान के शब्दों के प्रूफ निम्नलिखित महाशयों के पास भेजे जायँ।

बाबू भगवानदास, बाबू भगवतीसहाय, बाबू दुर्गाप्रसाद, पंडित गंगानाथ झा, लाला खुशीराम, प्रो० रानाडे, पंडित सुधाकर द्विवेदी, बाबू ठाकुरप्रसाद, पंडित विनायक राव और मैं।

यह काम इसी तरह किया गया और ३० जून १९०६ को जाकर यह ८ वर्षों के निरंतर उद्योग और परिश्रम तथा अनेक विद्वानों के सहयोग से पूर्णतया संपन्न हुआ।

अब यहाँ भिन्न भिन्न विज्ञानों के शब्दसंग्रह आदि के विषय में कुछ कहना है।

(१) **भूगोल**—इसमें ४८१ अँगरेजी शब्द और ६७५ उनके हिंदी-पर्याय थे। इसे मैंने तैयार किया था।

(२) **ज्योतिष**—इसे महामहोपाध्याय पंडित सुधाकर द्विवेदी ने तैयार किया था। इसमें ८१३ अँगरेजी और ९४८ हिंदी के शब्द थे।

(३) **अर्थशास्त्र**—इसे पंडित माधवराव सप्रे ने तैयार किया और इसके दुहराने में उनके सहायक थे बाबू गोविंददास और मैं। इसमें १,३२० अँगरेजी और २,११५ हिंदी के शब्द थे।

(४) **रसायनशास्त्र**—बाबू ठाकुरप्रसाद ने बाबू रामेंद्र सुंदर त्रिवेदी की बँगलाशब्दावली के आधार पर इसे तैयार किया था। इसमें १,६३८ अँगरेजी और २,२१२ हिंदी के शब्द थे।

(५) **गणितशास्त्र**—इसे महामहोपाध्याय पंडित सुधाकर द्विवेदी ने बनाया था। इसमें १,२४० अँगरेजी और १,५८० हिंदी के शब्द थे।

(६) **भौतिक विज्ञान**—इसे बाबू ठाकुरप्रसाद ने तैयार किया था। इसमें १,३२७ अँगरेजी और १,५४१ हिंदी के शब्द थे।

(७) **दर्शनशास्त्र**—इसे तैयार करने का भार पहले बाबू इंद्रनारायण-सिंह ने लिया था पर अस्वस्थता के कारण वे इसे न कर सके। तब रायबहादुर बाबू प्रमदादास मित्र को यह भार दिया गया पर उनकी मृत्यु हो जाने के कारण वे इसे न कर सके। इस अवस्था में पंडित महावीरप्रसाद द्विवेदी ने अत्यंत उदारतापूर्वक इस काम को अपने हाथ में लिया और बहुत शीघ्र उसे पूरा कर दिया। इसको दोहरा कर ठीक करने में सबसे अधिक परिश्रम बाबू भगवानदास ने किया। इसमें ३,५११ अँगरेजी और ७,१९८ हिंदी के शब्द हैं।

इस प्रकार यह कोप दोहराकर ठीक हो जाने पर सन् १९०८ में छपकर प्रकाशित हुआ। विचारणीय संस्करण में सब मिलाकर ७,४८३ अँगरेजी और ११,४७२ हिंदी के शब्द थे पर संशोधित संस्करण में अँगरेजी-शब्दों की संख्या १०,३३० और हिंदी-शब्दों की संख्या १६,२६९ हो गई। इन आँकड़ों से इसकी महत्ता प्रकट होती है, फिर भी मैं एक विशेष बात पर ध्यान दिलाता हूँ। रसायनशास्त्र में भिन्न भिन्न उपसर्गों और प्रत्ययों के लगाने से शब्दों के अर्थों में बड़ा अंतर हो जाता है। इस कठिनाई को कैसे दूर किया गया यह आगे की दी हुई सूची से स्पष्ट हो जायगा—

उपसर्ग

A } An } = अ या अन, जैसे Anhyoxide = अनार्द्र

Bi } Di } = द्वि, जैसे Bisulphate, Disulphate = द्विगंधित

Hepta = सप्त, जैसे Heptavalent = सप्तशक्तिक
Hexa = षट्, जैसे Hexavalent = षट्शक्तिक
Hypo = उप, जैसे Hyposulphite = उपगंधायित
Meta = मित, जैसे Metaphosphate = मितस्फुरित
Mono = एक, जैसे Monoxide = एकाम्लजित
Octo = अष्ट, जैसे Octovalent = अष्टशक्तिक
Ortho = ऋजु, जैसे Orthophosphate = ऋजुस्फुरित
Penta = पंच, जैसे Pentasulphide = पंचगंधिद
Per = परि, जैसे Persulphate = परिगंधित
Poly = बहु, जैसे Polyatomic = बह्वणिक
Proto = प्रति, जैसे Protosulphate = प्रतिगंधित
Pyro = मध्य, जैसे Pyrophosphate = मध्यस्फुरित
Sesqui = एकार्ध, जैसे Sesquioxide = एकार्द्धाम्लजिद
Sub = अधि, जैसे Subchloride = अधिहरिद
Super = अति, जैसे Superoxide = अत्यम्लजिद
Tetra = चतुर्, जैसे Tetraoxide = चतुरम्लजिद
Tri = त्रि, जैसे Trioxide = त्र्यम्लजिद

प्रत्यय

Ate = इत, जैसे Carbonate = कर्बनित
Ation = करण, जैसे Oxidation = अम्लजनीकरण

Et = एत, जैसे Sulphuret = गंधेत
Ic = क या इक, जैसे Antimonic = आंजनिक
Ide = इद, जैसे Bromide = ब्रमिद
Ine = इन, जैसे Amine = अमीन
Ite = आयित, जैसे Arsenite = तालायित
Myl = इल, जैसे Chromyl = क्रोमिल
Oid = ओद या कल्प, जैसे Alkaloid = क्षारोद
Ous = स या अस, जैसे Ferous = लोहस

आजकल मातृ-भाषा-द्वारा शिक्षा देने का आयोजन हो रहा है और यह प्रस्ताव हो रहा है कि उच्चतम वैज्ञानिक शिक्षा भी यथासमय मातृभाषा ही के द्वारा दी जाय। मेरी समझ में नहीं आता कि यह काम कैसे हो सकता है जब तक पारिभाषिक शब्दों की एक ऐसी सूची न बना ली जाय जो सर्वग्राह्य हो। हिंदी, गुजराती, मराठी और बँगला में समान शब्दों के प्रयोग में कोई बाधा नहीं है। ऊपर जिस प्रणाली का वर्णन किया गया है वह कितनी कुशलता से बनाई गई है इसका अनुभव थोड़ा विचार करने से ही हो सकता है। यदि इस कोश को आधार मानकर आगे का काम किया जाय और इसकी त्रुटियों को दूर कर दिया जाय तो काम बड़ी सुगमता से हो सकता है और उसका प्रचार देश भर में हो सकता है।

इस वैज्ञानिक कोश की प्रस्तावना में मैंने सब विवरण देकर अंत में यह लिखा था—

Patanjali says in his 'Mahâbhâsya': "No one goes to the house of the grammarian and says

'make words, I will use them". But the present needs of India compel the Indians to falsify the statement of their much respected sage. The literary public has now come to the Nagari-Pracharini Sabha and has said "Make words, we will use them to revive and enrich other moribund and poor Vernacular literature and make it powerful for the service of the Indian people by translation, reproduction and adaptation from the valuable works and ideas of the rising western nations". This glossary is the result. Some have criticised this action of the Sabha rather adversely. They say that we are practically placing the cart before the horse by beginning at the wrong end. True it is that a language cannot be created. It creates itself. But we had to assimilate and bring into our language all the scientific ideas of the west and we could not very well begin where they began in the history of their scientific literature. They built it up by slow degrees and if we were to follow the same process we should always be lagging centuries behind. And then too, our scientific vocabulary would be teeming with imperfections and redundancies, which are so dangerous to the expression of scientific ideas. To look ahead and to avoid all this difficulty the work was

undertaken, and thanks to the co-operation and selfsacrifice of so many scholars the work has been successfully accomplished. That this glossary is not perfect, that it has imperfections, great imperfections, no one will deny, but this was inevitable under the circumstances. No two words in the same language are exact equivalents. The same word in the mouths of two men has not infrequently two different shades of meaning; much more so, then, when we have to deal with different languages and to find equivalents to express one idea, for the very ideas are moulded by the line of development of the race— and as the line of development diverges so do the ideas, even those connected with identical objects become separate, distinct and perhaps opposed. To provide real equivalents for the words of one language out of words of another, is, therefore, very difficult. But anyone who pays close attention to what has been achieved in the glossary will, I am sure, readily admit that every one connected with this work has done his best under the peculiar circumstances, whatever shortcomings, omissions, redundancies are notable in this work being due to the circumstances noted above. As a literature on the subject gradually evolves in Hindi these defects

will naturally find their remedy in new editions or in entirely new works. This is the only roughest pioneer's work and future generations will no doubt knock off all superfluous knobs and excrescences and smooth, prepare and polish the rough materials in due course.

इस ग्रंथ की चारों ओर प्रशंसा हुई। यहाँ तक कि इँगलैंड के वैज्ञानिक पत्रों में भी इस कृति का सुंदर शब्दों में उल्लेख हुआ। मुझे खेद के साथ कहना पड़ता है कि जिन पंडित महावीरप्रसाद द्विवेदी ने दार्शनिक शब्दावली के प्रस्तुत करने में इतना उत्साह और अध्यवसाय दिखाया वे ही इस ग्रंथ के परिमार्जित और संशोधित रूप में प्रकाशित होने पर संतुष्ट न हुए। उन्होंने सरस्वती पत्रिका में इसकी जो समालोचना की उससे इस कथन की पुष्टि हो जायगी। कदाचित् इसका कारण यह हो सकता है कि दार्शनिक शब्दावली के दोहराने में उनका सहयोग नहीं प्राप्त किया गया। इसका मुख्य कारण यह था कि जिन लोगों के हाथ में इसके दोहराने का काम दिया गया था वे सब काशी के रहनेवाले थे और यह भी इसलिये किया गया कि जिसमें परस्पर परामर्श करने में सुगमता हो। द्विवेदी जी का महीनों तक काशी में इस काम के लिये रहना असंभव था। इस एक घटना को छोड़कर और कोई दुःखद बात इस रचना के संबंध में नहीं हुई।

(५)

हिंदी की लेख तथा लिपि-प्रणाली

सभा ने सन् १८९८ में एक उप-समिति इसलिये बनाई थी कि वह हिंदी को लेख तथा लिपि-प्रणाली के संबंध में अनेक प्रश्नों पर विचार कर अपनी सम्मति दे। इसमें ग्यारह सभासद् थे और इसका संयोजक मैं नियत किया गया था। समिति ने आठ प्रश्नों को छपवा-कर अनेक विद्वानों के पास सम्मति के लिये भेजा। इस पर ५९ महाशयों ने अपनी सम्मति दी। प्रश्न ये थे—

(१) हिंदी किस प्रणाली की लिखी जानी चाहिए अर्थात् संस्कृत-मिश्रित या ठेठ हिंदी या फारसी-मिश्रित और यदि भिन्न-भिन्न प्रकार की हिंदी होनी उचित है तो किन-किन विषयों के लिये कैसी भाषा उपयुक्त होगी ?

(२) विभक्ति अलग लिखनी चाहिए या एक साथ मिलाकर तथा संज्ञा और सर्वनाम में एक ही नियम होना चाहिए या अलग-अलग और समस्यमान शब्दों को मिलाकर लिखना चाहिए या अलग ?

(३) 'हुआ', 'गया' आदि के स्त्री-लिंग, पुंलिंग, एकवचन, बहुवचन में हुआ, हुवा, हुए, हुवे, हुई, गया, गए, गई, गयी आदि में से क्या लिखना चाहिए और किस नियम से ?

(४) संस्कृत के जो शब्द बिगड़ कर भाषा में प्रचलित हो गए हैं उन्हें भाषा में शुद्ध करके संस्कृत-शब्द लिखना चाहिए या अप-भ्रंश ? जैसे—

संस्कृत	अपभ्रंश
हस्ती	हाथी
घृत	घी
मुख	मुँह
वधू	बहू
कर्ण	कान
ग्राम	गाँव
वीर	बीर
हस्त	हाथ
दधि	दही
बधिर	बहिरा
अर्द्ध	आधा
मयूर	मोर
मिष्ठ	मीठा

इत्यादि ।

(५) कविता में अपभ्रंश शब्द लिखने चाहिएँ या शुद्ध ? जैसे—यश—जस, यशोदा—जसोदा, यमुना—जमुना, कारण—कारन, कुशल—कुसल इत्यादि । गद्य में ऐसे शब्दों को कैसे लिखना चाहिए ?

(६) एक ही अर्थवाची शब्दों के भिन्न-भिन्न रूप को किन स्थानों में किस रूप में लिखना चाहिए अर्थात् कहाँ 'और' लिखना चाहिए कहाँ 'औ' कहाँ 'नहीं' कहाँ 'न' इत्यादि ।

(७) नीचे लिखे तथा ऐसे ही दूसरे शब्दों के लिखने की कौन-सी रीति उचित है तथा बिंदु और चंद्रबिंदु के प्रयोग का क्या नियम होना चाहिए और 'म', 'न' आदि सानुनासिक अक्षरों पर बिंदु लगाना चाहिए या नहीं ?

अङ्ग—अंग, रङ्ग—रंग, अञ्जन—अंजन, सम्भव—संभव, परन्तु—परंतु, सकते—सक्ते, उसने—उस्ने, सभी—सबही, कभी—कबही—कधी, आपने ही—आप ही ने, देखैं—देखें, सोचैं—सोचें, पावैं—पायें, आवें—आएं, होवै—होए, कोपाध्यक्ष—कोशाध्यक्ष, उन्होंने—उनने, इन्होंने—इनने इत्यादि

(८) अँगरेजी के A, E और O तथा फारसी के ज़ाल (ذ), ज़े (ژ) आदि विदेशी भाषाओं के जिन जिन अक्षरों के लिखने के कोई चिह्न अब तक प्रचलित नहीं हैं उनके लिये कैसे चिह्न बनने चाहिए तथा अँगरेजी के विरामचिह्नों का भाषा में व्यवहार होना चाहिए या नहीं ?

इन प्रश्नों का उत्तर आ जाने पर उन पर विचार किया गया तथा मुझे आज्ञा हुई कि इन्हें लेकर मैं सभा के विचारार्थ एक रिपोर्ट लिखूँ। यह रिपोर्ट यथासमय लिखी गई और २४ नवंबर १८९९ को सभा की सेवा में उपस्थित की गई। इस समय भाषा के संबंध में जो आंदोलन मच रहा है उससे इस रिपोर्ट में दी हुई सम्मति से संबंध है। अतएव मैं यहाँ उसका अधिकांश उद्धृत करता हूँ। इस रिपोर्ट की प्रतियाँ अप्राप्त हैं। इसलिये उसकी मुख्य मुख्य बातों का उल्लेख हो जाना आवश्यक भी है। ऊपर जो प्रश्नावली दी गई है

उसके देखने से प्रकट होगा कि प्रश्न १, ४ और ५ का संबंध लेख-प्रणाली और शेष प्रश्नों का संबंध लिपि-प्रणाली से है। अतएव, पहले लेख-प्रणाली के संबंध में उक्त रिपोर्ट से अंश उद्धृत करता हूँ।

"हिंदी भाषा के ग्रंथों तथा कवियों का पता एक सहस्र वर्ष से पहले का नहीं लगता, परंतु जो पता लगता है उसमें भी ग्रंथों का सर्वथा अभाव है। गद्य के प्राचीन ग्रंथ न देखने में आते हैं और न सुनने में, और जो कहीं वैद्यक तथा धर्मसंबंधी विषयों आदि के ग्रंथों की टीकाएँ मिल भी जाती हैं तो उनकी भाषा टूटी-फूटी हिंदी या व्रजभाषा के अतिरिक्त दूसरी देख नहीं पड़ती। इन्हीं कारणों से भाषा-तत्त्व-वेत्ताओं ने यह मान लिया है कि वास्तव में वर्त्तमान हिंदी-गद्य-लेख-प्रणाली सन् १८०० ई० में पंडित लल्लूलाल के प्रेम-सागर से प्रचलित हुई। इसके* अनंतर इस प्रणाली का कुछ कुछ प्रचार होता रहा, परंतु भारतेंदु के समय में यह परिष्कृत और प्रसाद-गुण-संपन्न हुई। गद्य की उत्पत्ति होते ही उसके लेखक भी हो गए और उन लोगों ने अपनी अपनी रुचि के अनुसार हिंदी लिखना प्रारंभ किया। यह देखकर हिंदी के युरोपीय विद्वानों ने विचार करना आरंभ किया कि इस भाषा के लिखने में शब्दों की सहायता फारसी से ली जाय या संस्कृत से। इन विद्वानों में से प्रधान महाशय बीम्स और ग्राउस थे और यह विवाद सन् १८६६—६७

---

* नवीन अनुसंधानों से सदल मिश्र, इंशाउल्ला खाँ तथा सदासुखराय आदि प्राचीन गद्य-लेखकों का भी पता लगा है जिनमें सदासुखराय सबसे पुराने और सर्वश्रेष्ठ ज्ञात होते हैं।

में हुआ था। बीम्स इस मत के पक्षपाती थे कि फारसी और अरबी के शब्दों का हिंदी में प्रयोग हो और ग्राउस इस मत के समर्थक थे कि हिंदी में फारसी और अरबी के उन सब शब्दों का प्रयोग न किया जाय जो हिंदीवत् नहीं हो गए हैं और यदि हिंदी के कोष में उपयुक्त शब्द न मिलें और दूसरी भाषाओं से शब्द लेने की आवश्यकता हो तो संस्कृत भाषा का ही आश्रय लिया जाय। दोनों विद्वानों में इस विषय पर बहुत दिनों तक विवाद चला और अंत में यही निश्चय हुआ कि इस विषय का निश्चय हिंदी के उत्तम लेखक ही स्वयं कर सकते हैं। इस बात को ३० (अब तो ६५) वर्ष से अधिक हो गया और अब यह समय आ गया है कि हिंदी की लेख-प्रणाली का निश्चय किया जाय।

"किसी भाषा के लिखने की प्रणाली एक-सी नहीं हो सकती। विषयभेद तथा रुचिभेद से भाषा का भेद है। पृथ्वी पर जितनी भाषाएँ हैं, सभी में कठिन और सरल लेख लिखने की रीति चली आती है। कहाँ कैसी भाषा लिखनी चाहिए, यह लेखक और विषय पर निर्भर है। इसके लिये कोई नियम नहीं बन सकता। यदि लेखक की यह इच्छा है कि भाषा कठिन हो तो उसे निस्संदेह संस्कृत के शब्दों का प्रयोग करना होगा और यदि उसकी यह इच्छा है कि भाषा सबके समझने योग्य हो तो उसे हिंदी के सीधे शब्दों को काम में लाना पड़ेगा। परंतु यह बात केवल लेखक पर ही निर्भर नहीं है, विषय पर भी बहुत कुछ निर्भर है। यदि कोई महाशय संस्कृत-दर्शनशास्त्र पर कोई लेख या ग्रंथ लिख रहे हैं तो निश्चय

उनकी भाषा में संस्कृत के शब्द भरे रहेंगे और भाषा कठिन होगी। वैसे ही यदि कोई महाशय रेल या अन्य ऐसी बातों का वर्णन करें जिनका युरोपीय लोगों के कारण इस देश में प्रचार हुआ हो तो उन्हें अवश्यमेव युरोपीय भाषाओं के शब्दों से कुछ न कुछ लेना पड़ेगा और यदि उनको विदेशीय शब्दों से चिढ़ है तो उनकी भाषा ऐसी होगी कि जिसे समझने के लिये पाठकों को उन्हीं से पूछना होगा।

"इतिहास इस बात को पूर्णतया सिद्ध करता है कि संसार में सब जातियों की भाषा और रहन-सहन पर उन अन्य जातियों का पूर्ण प्रभाव पड़ा है जिनसे किसी न किसी रीति से उनका कुछ घनिष्ठ संबंध हो जाता है। यह संबंध प्रायः दो प्रकार से होता है— एक तो जब एक जाति दूसरी जाति को पराजित करके उस देश का शासन करने लगती है, दूसरे जब दो जातियों में परस्पर व्यापार का संबंध हो जाता है। इस प्रकार के संबंध होने पर परस्पर शब्दों का हेर-फेर होने लगता है और प्राकृतिक नियमानुसार वे शब्द काल पाकर अपना रूप किंचित् परिवर्तित करके स्वयं उस भाषा में मिल जाते और उसके शब्द माने जाते हैं, यद्यपि उनकी उत्पत्ति के विषय में यही कहा जाता है कि ये शब्द अमुक भाषा के हैं। इस प्रकार से जिस भाषा में शब्द मिल जाते हैं उस भाषा की कुछ अप्रतिष्ठा नहीं मानी जाती। भारतवर्ष के इतिहास पर ध्यान देने से यह प्रकट होता है कि बहुत प्राचीन काल से यहाँ हिंदुओं का राज्य था। फिर मुसलमानों ने अपना आतंक जमाया और उनके पीछे अँगरेजों ने

इस देश को अपने अधीन किया। यद्यपि बीच बीच में अन्य जातियों ने भी इस देश के किसी किसी अंश पर राज्य किया, पर विशेष कर इन्हीं तीन मुख्य जातियों के अधीन यह देश रहा। इससे यह बहुत संभव है कि उन अन्य जातियों के अतिरिक्त जो इस देश की सीमा में थीं अथवा जिनसे और किसी प्रकार से इस देश से संबंध हो गया है, मुसलमान और अँगरेज जाति का प्रभाव इस देश के प्राचीन निवासी हिंदुओं पर, उनकी भाषा और उनके रहन-सहन तथा विचारों पर अधिक पड़ा हो। आजकल जो अवस्था भारतवर्ष की है उस पर ध्यान देने से यह बात स्पष्ट हो जाती है कि वास्तव में यह बात ऐसी ही है। हमारा संबंध विशेष कर भाषा से है। अतएव, अपने प्रयोजन के लिये इतना ही देख लेना उचित होगा कि किस प्रकार से दूसरी भाषाओं के शब्द हमारी भाषा में मिल गए। यह बात सर्वसम्मत है कि यहाँ की प्राचीन भाषा संस्कृत है जो जगत् के परिवर्त्तनशील गुण के अनुसार बिगड़ कर आधुनिक हिंदी हो गई। यह भाषा आज दिन भारतवर्ष के उत्तर-खंड में बोली और लिखी जाती है। उस पर ध्यान देने से यह देख पड़ेगा कि इसमें युरोपीय भाषाओं के बहुत-से शब्द आ मिले हैं, जिनका अब हिंदी के अच्छे अच्छे लेखक प्रयोग करते हैं और जो अब हिंदी के शब्द माने जाते हैं, जैसे फीता, पादरी, गिर्जा, पिस्तौल, कप्तान, थेटर, गोदाम, टेबुल, बेंच, बक्स, रेल, लालटैन, लंप, स्कूल, स्टेशन, हस्पताल, आदि शब्द अब इस प्रकार से हिंदी में मिल गए हैं कि सब लोग उन्हें भली-भाँति समझते हैं। अब यदि

इन शब्दों के उच्चारण पर ध्यान दिया जाय तो यह देख पड़ेगा कि अधिकांश शब्दों का जो उच्चारण मुख्य भाषा में था उससे हिंदी में कुछ बदल गया है जैसे ल्यानटैर्न का लालटैन और लैम्प का लंप। बहुत-से शब्द ऐसे भी हैं जिनके उच्चारण में कुछ भी भेद नहीं पड़ा अथवा नाम-मात्र को हुआ है, जैसे बक्स, रेल आदि। इसी प्रकार से फारसी और अरबी के बहुत-से शब्द हिंदी में मिल गए हैं जिनमें से कुछ का तो रूप बदल गया है और कुछ ज्यों के त्यों वर्त्तमान हैं। इसलिये जो लोग यह कहते हैं कि हिंदी में अरबी फारसी के किसी शब्द का प्रयोग न हो उन्हें इस बात पर ध्यान देना चाहिए कि क्यों अरबी फारसी पर ही यह रोक लगाई जाय। क्यों न यह नियम कर दिया जाय कि जितने शब्द संस्कृत के अतिरिक्त किसी दूसरी भाषा से आ गए हैं वे सब निकाल दिए जायँ? हम लोगों का यह मत है कि जो शब्द अरबी फारसी या अन्य भाषाओं के हिंदीवत् हो गए हैं तथा जिनका पूर्ण प्रचार है वे हिंदी के ही शब्द माने जायँ और उनका प्रयोग दूषित न समझा जाय। इससे यह बात न समझी जाय कि जितनी पुस्तकें नागरी अक्षरों में छपी हैं वे सब हिंदी भाषा की हैं, क्योंकि आज-कल बहुत-सी ऐसी पुस्तकें देखने में आती हैं जिनके अक्षर तो नागरी हैं पर भाषा ठेठ उर्दू।

"हिंदी-लेखकों और हितैषियों में एक दल ऐसा है जो इस मत का पोषक है कि हिंदी में हिंदी के शब्द रहें, संस्कृत के शब्दों का प्रयोग न हो। यह सम्मति युक्ति-संगत नहीं जान पड़ती। हिंदी का जन्म संस्कृत से हुआ है, इसलिये वह उसकी माता के स्थान

पर हुई। अब यदि आवश्यकता पड़ने पर हिंदी अपनी माता से सहायता न ले तो और कहाँ से ले सकती है। अतएव यह उद्योग कि हिंदी से संस्कृत के वे सब शब्द निकाल दिए जायँ जो हिंदीवत् नहीं हो गए हैं, सर्वथा निष्फल और असंभव है। संस्कृत के शब्दों से अवश्यमेव सहायता ली जायगी, पर इस बात पर अवश्य ध्यान रखना चाहिए कि जहाँ शुद्ध हिंदी के शब्द से काम चल जाय और भाषा में किसी प्रकार का दोष न आता हो, वहाँ संस्कृत के शब्दों की वृथा भरती न की जाय। कुछ लोग ऐसे भी है जो कहते हैं कि संस्कृत के शब्दों का ही अधिक प्रयोग हो। विदेशी भाषा के सरल शब्द के स्थान पर भी यदि संस्कृत के एक कठिन शब्द से काम चल सके तो संस्कृत-शब्द ही काम में लाया जाय, विदेशी भाषा का शब्द निकाल दिया जाय। इन महाशयों के मत से भाषा ऐसी कठिन हो जायगी कि उसका समझना सब लोगों का काम न होगा। हिंदी भाषा में विशेष गुण यह है कि वह सरलता और सुगमता से समझ में आती है और इसी लिये वह भारतवासी मात्र की मातृभाषा मानी जाती है। संस्कृत-शब्दों के अधिक प्रचार से यह गुण जाता रहेगा। हाँ, यह बात बहुत आवश्यक है कि भाषा सब श्रेणी के लोगों के पढ़ने योग्य हो। पर क्या संस्कृत के कठिन शब्दों के बिना यह नहीं हो सकता?

"विदेशी भाषा के शब्दों के विषय में इतना कहना और रह गया है कि जिन शब्दों का भाषा में प्रचार हो गया है उनके छोड़ने या निकालने का उद्योग अब निष्फल, निष्प्रयोजन और असंभव है।

हाँ, भविष्यत् में विदेशी भाषा के नवीन शब्दों को प्रचलित करते समय इस बात पर पूर्णतया ध्यान रखा जाय कि उन विदेशी शब्दों का हिंदी में प्रयोग न हो जिनके लिये हिंदी या संस्कृत में ठीक वही अर्थवाचक शब्द हैं। सब पक्षों पर ध्यान देकर हम लोगों का सिद्धांत यह है कि हिंदी लिखने में जहाँ तक हो सके फारसी अरबी तथा और विदेशी भाषाओं के ऐसे शब्दों का प्रयोग न किया जाय जिनके स्थान पर हिंदी के अथवा संस्कृत के सुगम और प्रचलित शब्द उपस्थित हैं पर विदेशी भाषाओं के ऐसे शब्द जो पूर्णतया प्रचलित हो गए हैं और जिनके स्थान पर हिंदी के शब्द नहीं हैं अथवा जिनके स्थान पर संस्कृत के शब्द रखने से कष्टार्थ दूषण की संभावना है, उनका प्रयोग होना चाहिए। सारांश यह कि सबसे पहला स्थान शुद्ध हिंदी के शब्दों को, उसके पीछे संस्कृत के सुगम और प्रचलित शब्दों को, इसके पीछे फारसी आदि विदेशी भाषाओं के साधारण और प्रचलित शब्दों को और सबसे पीछे संस्कृत के अप्रचलित शब्दों को स्थान दिया जाय। फारसी आदि विदेशी भाषाओं के कठिन शब्दों का प्रयोग कदापि न हो।

"भिन्न-भिन्न विषयों तथा अवसरों के निमित्त भिन्न-भिन्न प्रणाली आवश्यक है। जो ग्रंथ या लेख इस प्रयोजन से लिखे जायँ कि सर्वसाधारण उन्हें समझ सकें उनकी भाषा ऐसी सरल होनी चाहिए कि सर्व-बोधगम्य हो। जहाँ तक हो, सीधे सीधे सरल शब्दों का प्रयोग हो, फारसी और अरबी के अप्रचलित शब्दों का प्रचार न हो। उच्च श्रेणी के पाठकों के लिये जो ग्रंथ लिखे जायँ

और जिनके द्वारा लेखक साहित्य की उच्चतम शब्द-छटा दिखलाना चाहता हो उसमें निस्संदेह संस्कृत के शब्द आवें, पर फिर भी जहाँ तक संभव हो कठिनतर शब्दों का प्रयोग न हो। जैसा कि हम लोग ऊपर लिख चुके हैं, भाषा में गंभीरता संस्कृत के कठोर शब्दों के प्रयोग से नहीं आ सकती। सुंदर शब्द-योजना और मुहाविरा ही भाषा का मुख्य भूषण है। जैसे यदि किसी प्राकृतिक दृश्य का वर्णन किया जाय तो उसमें इस प्रकार की भाषा सर्वथा अनुचित है—

"अहा! यह कैसी अपूर्व और विचित्र वर्षा-ऋतु सांप्रत प्राप्त हुई है और चतुर्दिक् कुज्झटिकापात से नेत्र की गति स्तंभित हो गई है, प्रतिक्षण अभ्र में चंचला पुंश्चली स्त्री की भाँति नर्तन करती है और वैसे ही बकावली उड्डीयमाना होकर इतस्ततः भ्रमण कर रही है। मयूरादि अनेक पक्षीगण प्रफुल्लित चित्त से रव कर रहे हैं और वैसे ही दर्दुरगण भी पंकाभिषेक करके कुकवियों की भाँति कर्णवेधक टर्राझंकार-सा भयानक शब्द करते हैं।"

" 'इसमें संस्कृत के शब्द कूट कूट कर भर दिए गए हैं। चाहे कैसा ही ग्रंथ क्यों न लिखा जाय उसमें इस प्रकार की भाषा न लिखनी चाहिए। इससे यदि संस्कृत ही लिखी जाय तो श्रेय है। भाषा का दूसरा उदाहरण लीजिए—

" 'सब विदेशी लोग घर फिर आए और व्यापारियों ने नौका लादना छोड़ दिया, पुल टूट गए, बाँध खुल गए, पंक से पृथ्वी भर गई, पहाड़ी नदियों ने अपने बल दिखलाए, बहुत-से वृक्ष कूल-

समेत तोड़ गिराए, सर्प बिलों से बाहर निकले, महानदियों ने मर्यादा भंग कर दी और स्वतंत्र स्त्रियों की भाँति उमड़ चलीं।'

"इसमें भी संस्कृत के शब्द हैं पर वे इतने सामान्य और सरल हैं कि उनका प्रयोग अग्राह्य नहीं। ऐसी ही भाषा हम लोगों का आदर्श होनी चाहिए। भाषा के दो अंग हैं—एक साहित्य और दूसरा व्यवहार। साहित्य की भाषा सर्वदा उच्च होनी चाहिए, इसका ढंग सर्वथा ग्रंथकर्त्ता के अधीन है। वह अपनी रुचि तथा विषय के अनुसार उसे क्लिष्ट या सरल लिख सकता है। संस्कृत या विदेशी भाषाओं के शब्दों का प्रयोग भी उसी की इच्छा पर निर्भर है। इसमें बाधा डालकर ग्रंथकर्त्ता की बुद्धि के वेग को रोक कर उसे सीमाबद्ध कर देने का अधिकार किसी को नहीं है। परंतु व्यवहार-संबंधी लेखों में अवश्य वही भाषा रहनी चाहिए जो सबकी समझ में आ सके, उसमें किसी भाषा के प्रचलित शब्द प्रयुक्त किए जा सकते हैं। अदालत के सब काम, नित्य की व्यवहार-संबंधी लिखा-पढ़ी, सर्वसाधारण में वितरण करने योग्य लेख या पुस्तकें, समाचार-पत्रादि जितने विषय कि सर्वसाधारण के साथ संबंध रखते हैं, उनमें ऐसी सरल बोल-चाल की भाषा आनी चाहिए जो सबकी समझ में आ जाय, उसके लिये उच्च हिंदी होनी आवश्यक नहीं है। वह ऐसी होनी चाहिए जिसे ऐसा मनुष्य भी जो केवल नागरी अक्षर पढ़ सकता हो समझ ले। पाठशालाओं में पढ़ने का क्रम ऐसा होना चाहिए जिसमें सब प्रकार की भाषा समझने की योग्यता बालक को हो जाय। प्रारंभिक पुस्तकें अत्यंत

ही सरल होनी चाहिएँ, उनमें उच्च हिंदी का विचार आवश्यक नहीं, फिर क्रम-क्रम से भाषा कठिन होनी चाहिए जिसमें कठिन से कठिन भाषा-ग्रंथों के समझने की योग्यता हो जाय। व्यावहारिक लेखों की भाषा पाठशालाओं में सिखलाना व्यर्थ है, क्योंकि उसे तो केवल अक्षर पहचान लेने ही से इस देश के निवासी समझ लेंगे।"

चौथे प्रश्न का विवेचन करते हुए यह लिखा गया था—"हिंदी में अपभ्रंश शब्द मुख्य दो प्रकार के हैं—एक तो वे जिनका रूप पूर्णतया बदल गया है जैसे हाथी, घी, दही आदि, दूसरे इस प्रकार के हैं जिनके उच्चारण में ही केवल भेद पड़ गया है जैसे कारन, जसोदा, कुसल आदि। प्रथम प्रश्न के उत्तर में जो कुछ हम लोग लिख चुके हैं, उसके अनुसार यह नहीं कहा जा सकता कि हिंदी में शुद्ध संस्कृत-शब्दों का प्रचार हो अथवा अपभ्रंश का। यह बात लेखक की लिखावट पर निर्भर है। जैसे—

(१) उस उत्तुंग गिरिशृंग पर हस्तियों की श्रेणी से सघन घनमाला का भ्रम होता है।

(२) उस सूनसान वन में बनैले हाथियों की चिंघाड़ सुनाई पड़ती थी।

(३) घृत आहुति।

(४) घी में चभाचभ।

(५) मुँह थामे लेता था।

(६) चंद्रमुख इत्यादि।

"अब यदि दूसरे प्रकार के शब्दों के विषय में यह सम्मति दी गई कि इनका प्रयोग साधारणतः कविता में मार्जनीय है पर गद्य में इनका प्रयोग उचित नहीं है। कवि निरंकुश होते हैं। उनको नियमबद्ध करना उचित नहीं है। इस बात का निर्णय उनके रसगत भाव और योजना पर निर्भर है।"

यहाँ तक लेख-प्रणाली के विषय में विचार किया गया। लिपि-प्रणाली के संबंध में विचार कर यह सम्मति दी गई कि विभक्तियाँ संज्ञा शब्दों से अलग और सर्वनाम शब्दो से मिलाकर लिखनी चाहिएँ। इस विषय का विवेचन मैंने किंचित् विस्तार के साथ अपने "भाषा-विज्ञान" नामक ग्रंथ में किया है। अतएव उसके संबंध में मेरे विचारों का ज्ञान उस ग्रंथ को देखने से हो सकता है। 'औ' और 'और' आदि शब्दों के विषय में यह कहा गया कि 'औ' संयोजक तथा 'और' संयोजक और सर्वनाम दोनों हैं। पहले का प्रयोग पद्य में होना चाहिए और दूसरे का गद्य और पद्य दोनों में। परसवर्ण के विषय में यह बात उचित समझी गई कि जहाँ तक संभव हो, बिंदु से पंचम वर्ण का काम लिया जाय, पर पंचम वर्ण का प्रयोग भी व्याकरण-विरुद्ध नहीं है। तुम्हारा, सबने, उसने, सभी, कभी, हुए, हुआ, हुई, उन्होंने, इन्होंने आदि लिखना ठीक है, दूसरा रूप ठीक नहीं। चंद्रबिंदु का प्रयोग उच्चारण पर ध्यान देकर अवश्य करना चाहिए। विरामचिह्नों के विषय में यह मत दिया गया कि कोलन (:) को छोड़ कर अन्य विरामचिह्नों का प्रयोग किया जाय। अँगरेजी, फारसी भाषाओं के शब्दों को नागरी अक्षरों में

लिखने के लिये कई संकेतों की कल्पना की गई। पर इस संबंध में मेरे मत में अब परिवर्त्तन हो गया है।

देवनागरी अक्षर भारतीय आर्य-भाषाओं के लिखने के लिये हैं। यद्यपि संकेत-चिह्नों को लगाकर दूसरी भाषा के शब्द भी लिखे जा सकते हैं, पर इस बात का ध्यान रखना चाहिए कि देवनागरी-सी वैज्ञानिक और सुंदर लिपि संसार में दूसरी नहीं है। वह यहाँ के निवासियों के नाद-यंत्र की बनावट को ध्यान में रखकर रची गई है। उसमें एतद्देशीय लोगों के उच्चारणों के लिये सब चिह्न वर्त्तमान हैं, न किसी चिह्न का अभाव है और न किसी का आधिक्य। अतएव इसमें अधिक चिह्नों को जोड़कर इसे जटिल बनाना उचित नहीं है। हाँ, ख, च, ध, भ, म, ण के चिह्नों में किंचित् नाम-मात्र का परिवर्त्तन वांछनीय हो सकता है जिसमें लिखावट में इनकी संदिग्धता दूर हो जाय।

मनुष्य खाद्य पदार्थों का भोजन करता है और उसका पाचन-यंत्र उसे मथकर उसमें से जो अंश शुक्र, रक्त, मज्जा, मांस, अस्थि आदि के लिये आवश्यक होता है उसे ग्रहण कर बाकी को फेंक कर बाहर निकाल देता है। इसी से उसके प्रत्येक अवयव की पुष्टि तथा वृद्धि होती है। जब उसकी पाचन-शक्ति क्षीण हो जाती है तब उसका शरीर जर्जरित होने लगता और अंत में नष्ट हो जाता है। भाषा की पाचन-शक्ति भी ऐसी ही है। उसके अंग की पुष्टि और वृद्धि तथा भांडार की पूर्ति के लिये उसको शब्दों की आवश्यकता होती है। उन्हें जहाँ से प्राप्त हो सके ले लेना चाहिए। पर इस बात

का पूरा पूरा ध्यान रखना चाहिए कि इन शब्दों को हम अपना रूप दें, उनकी शुद्धि करके तब उन्हें अपने भाषा-भांडार में सम्मिलित करें। सारांश यह है कि भाषा में यह शक्ति होनी चाहिए कि वह विदेशी शब्दों को हजम कर सके—पचा सके। उसकी इस पाचन-शक्ति का ह्रास नहीं होना चाहिए। नहीं तो उसका शरीर जर्जरित होकर मानव-शरीर की भाँति नष्ट हो जायगा। इस काम के लिये भाषा-तत्त्व-वेत्ताओं ने तीन नियम बनाए हैं, जो ये हैं—

(१) जब एक भाषा किसी दूसरी भाषा से कोई शब्द ग्रहण करती है, तब उस शब्द के रूप में ऐसा परिवर्त्तन हो जाता है जिससे वह शब्द दूसरी भाषा में सुगमता से अंतर्लीन हो जाता है। इस सिद्धांत का मूल आधार नाद-यंत्र से संबंध रखता है और उसी के अनुसार शब्दों के रूप में परिवर्त्तन हो जाता है।

(२) जब एक भाषा से दूसरी भाषा में कोई शब्द आता है, तब वह शब्द उस ग्राहक भाषा के अनुरूप उच्चारण के शब्द या निकटतम मित्राक्षर शब्द से जो उस भाषा में पहले से वर्त्तमान रहता है, प्रभावित होकर कुछ अक्षरों या मात्राओं का लोप करके अथवा कुछ नये अक्षरों या मात्राओं के मेल से उसके अनुकूल रूप धारण करता है।

(३) जब एक भाषा से दूसरी भाषा में कोई शब्द आता है, तब उस ग्राहक भाषा के व्याकरण के नियमों के अनुसार उस आगत शब्द का, उस भाषा में पूर्वस्थित अनुरूप शब्दों की भाँति अनुशासन

होता है; अथवा उस ग्राहक भाषा की प्रकृति के अनुसार उसका व्याकरण-संबंधी रूप स्थिर होता है।

इस बात का उद्योग करना कि हमारी देवनागरी-लिपि संसार-व्यापिनी होकर अंतर्राष्ट्रीय प्रयोग में आवेगी, विडंबना-मात्र है और इस मृगमरीचिका के पीछे दौड़ कर कहीं हम अपनी चिर-अर्जित संपत्ति को भी नष्ट-भ्रष्ट न कर दें, इस बात की बड़ी आशंका है।

(६)

हस्तलिखित हिंदी-पुस्तकों की खोज

सन् १८६८ ई० में भारत-सरकार ने लाहौरनिवासी पंडित राधाकृष्ण के प्रस्ताव को स्वीकृत कर भारतवर्ष के भिन्न-भिन्न प्रांतों में हस्तलिखित संस्कृत-पुस्तकों की खोज का काम आरंभ करना निश्चित किया और इस निश्चय के अनुसार अब तक संस्कृत-पुस्तकों की खोज का काम सरकार की ओर से बंगाल की रायल एशियाटिक सुसाइटी, बंबई और मदरास की गवर्मेंटों तथा अन्य अनेक संस्थाओं और विद्वानों द्वारा निरंतर होता आ रहा है। इस खोज का जो परिणाम आज तक हुआ है और इससे भारतवर्ष की जिन-जिन साहित्यिक तथा ऐतिहासिक बातों का पता चला है, वे 'पंडित राधाकृष्ण की बुद्धिमत्ता और दूरदर्शिता तथा भारत-गवर्मेंट की कार्यतत्परता और विद्या-प्रेम के प्रत्यक्ष और ज्वलंत प्रमाण हैं। संस्कृत-पुस्तकों की खोज-संबंधी डाक्टर कीलहार्न, बूलर, पीटर्सन, भांडारकर और वर्नेल आदि की रिपोर्टों के आधार पर डाक्टर

आफ्रेक्ट ने तीन भागों में संस्कृत-पुस्तकों तथा उनके कर्त्ताओं की एक बृहत् सूची छापी है जो बड़े महत्त्व की है और जिसके देखने से संस्कृत-साहित्य के विस्तार तथा महत्त्व का पूरा-पूरा परिचय मिलता है। इसका नाम कैटेलागस कैटेलोगोरम है। ऐसे ही महत्त्व के ग्रंथों में डाक्टर आफ्रेक्ट का आक्सफोर्ड की बाडलियन लाइब्रेरी का सूचीपत्र, एगलिंग की इंडिया आफिस की पुस्तकों का सूचीपत्र तथा वेबर का बर्लिन के राज-पुस्तकालय का सूचीपत्र है।

काशी-नागरी-प्रचारिणी सभा की स्थापना के पहले ही वर्ष में इसके संचालकों का, जिनमें बाबू राधाकृष्णदास मुख्य थे, ध्यान इस महत्त्वपूर्ण विषय की ओर आकर्षित हुआ। सभा ने इस बात को भली भाँति समझ लिया और उसको इसका पूरा पूरा विश्वास हो गया कि भारतवर्ष की, विशेषकर उत्तर-भारत की, बहुत-सी साहित्यिक तथा ऐतिहासिक बातें बेठनों में लपेटी, अँधेरी कोठरियों में बंद हस्तलिखित हिंदी-पुस्तकों में छिपी पड़ी हैं। यदि किसी को कुछ पता भी है अथवा किसी व्यक्ति के घर में कुछ हस्तलिखित पुस्तकें संगृहीत भी हैं तो वे या तो मिथ्या मोहवश अथवा धनाभाव के कारण इन छिपे हुए रत्नों को सर्वसाधारण के सम्मुख उपस्थित कर अपनी देश-भाषा के साहित्य को लाभ पहुँचाने और उसे सुरक्षित करने से पराङ्मुख हो रहे हैं।

सभा यह भली भाँति समझती थी कि इन छिपी हुई हस्तलिखित पुस्तकों को ढूँढ़ निकालने में तथा उनको प्राप्त करने में बड़ी-बड़ी कठिनाइयों का सामना करना पड़ेगा, क्योंकि सभ्यता की

इस बीसवीं शताब्दी में ऐसे बहुत-से लोग मिल जाते हैं जो अपनी प्राचीन हस्तलिखित पुस्तकों को देने की बात तो दूर रही, दिखाने में भी आनाकानी करते हैं। तथापि यह सोचकर कि कदाचित् नीति, धैर्य और परिश्रम से काम करने पर कुछ लाभ अवश्य होगा, सभा ने यह विचार किया कि यदि राजपुताने, बुंदेलखंड, संयुक्त-प्रदेश तथा अवध और पंजाब में प्राचीन हस्तलिखित हिंदी-पुस्तकों के संग्रहों के खोजने की चेष्टा की जाय और उनकी एक सूची बनाई जा सके तो आशा है कि गवर्मेंट के संरक्षण, अधिकार तथा देख-रेख में इस खोज की अच्छी सामग्री मिल जाय। पर सभा उस समय अपनी बाल्यावस्था में तथा प्रारंभिक स्थिति में थी और ऐसे महत्त्वपूर्ण और व्यय-साध्य कार्य का भार उठाने में सर्वथा असमर्थ थी। अतएव, उसने भारत-गवर्मेंट तथा बंगाल की एशियाटिक सुसाइटी से प्रार्थना की कि भविष्य में हस्तलिखित संस्कृत-पुस्तकों की खोज तथा जाँच करते समय यदि हिंदी की हस्तलिखित पुस्तकें भी मिल जायँ तो उनकी सूची भी कृपाकर प्रकाशित कर दी जाय। एशियाटिक सुसाइटी ने सभा की इस प्रार्थना पर उचित ध्यान देते हुए उसकी अभिलाषा को पूर्ण करने की इच्छा प्रकट की। भारत-गवर्मेंट ने भी इसी तरह का संतोषजनक उत्तर दिया। सन् १८९५ के आरंभ में ही एशियाटिक सुसाइटी ने खोज का काम बनारस में आरंभ कर दिया और उस वर्ष कम-से-कम ६०० पुस्तकों की नोटिसें तैयार की गईं। दूसरे वर्ष उक्त सुसाइटी ने इस काम के करने में अपनी असमर्थता प्रकट की और वहीं इस कार्य की इतिश्री हो

गई। यह खेद की बात है कि इन पुस्तकों की कोई सूची अब तक प्रकाशित नहीं की गई। सभा ने संयुक्त-प्रदेश की गवर्मेंट से भी खोज का काम कराने की प्रार्थना की थी। प्रांतीय गवर्मेंट ने अपने यहाँ के शिक्षा-विभाग के डाइरेक्टर को लिख दिया कि वे संस्कृत-पुस्तकों की खोज के साथ ही साथ उसी ढंग पर ऐतिहासिक तथा साहित्यिक महत्त्व की हस्तलिखित हिंदी-पुस्तकों की खोज का भी उचित प्रबंध कर दें। इस आज्ञा की अवहेलना की गई और इस संबंध में कोई कार्य नहीं हुआ। तब मार्च सन् १८९९ में सभा ने फिर गवर्मेंट का ध्यान आकर्षित किया। अब की बार गवर्मेंट ने इस कार्य के लिये सभा को ४०० रु० वार्षिक सहायता देने की स्वीकृति दी और सभा ने बड़े उत्साह से इस काम को अपने हाथ में लिया। अगले वर्ष यह सहायता ५०० हो गई। कुछ वर्षों के अनंतर १००० रु० वार्षिक सहायता मिलने लगी और अब कई वर्षों से २००० रु० वार्षिक सभा को इस काम के लिये मिलता है।

इस कार्य का सब प्रबंध सोच लेने पर एक निरीक्षक नियत करने की बात उठी। मैं चाहता था कि बाबू राधाकृष्णदास इस काम को करें, पर उन्होंने कहा कि 'मेरी अँगरेजी की योग्यता ऐसी नहीं है कि मैं इसकी रिपोर्ट उस भाषा में लिख सकूँ।' अतएव मैं निरीक्षक चुना गया। इस कार्य की सब शिक्षा मुझे बाबू राधाकृष्णदास से प्राप्त हुई। वे ही इस काम में मेरे गुरु थे। साथ ही उन्होंने इस कार्य में पूरा सहयोग भी दिया। अस्तु, काम आरंभ हुआ। पहले वर्ष में हम दोनों व्यक्ति मथुरा और जयपुर में पुस्तकों की खोज में गए।

वहाँ जो कुछ मिला वह सब पहली रिपोर्ट में लिखा है। यह तो संभव नहीं है कि इस स्थान पर इस कार्य का सविस्तर वर्णन हो सके, पर संक्षेप में दिग्दर्शन-मात्र कराने का मैं उद्योग करूँगा। आरंभ में प्रतिवर्ष रिपोर्ट लिखी जाती थी पर १९०६ से प्रति तीसरे वर्ष रिपोर्ट देने का नियम निश्चित हुआ। मेरी लिखी सात रिपोर्टें हैं जिनमें ६ तो वार्षिक और एक त्रैवार्षिक है।

सन् १९०० में १६९ पुस्तकों के विवरण तैयार किए गए। इनमें १२ ग्रंथों को छोड़कर, जिनके रचयिताओं का पता न चल सका, शेष १५७ ग्रंथ ६० विद्वानों के रचे हुए हैं। इन ग्रंथकारों में से १ बारहवीं, २ चौदहवीं, १ पंद्रहवीं, २२ सोलहवीं, १८ सत्रहवीं, १८ अट्ठारहवीं और १६ उन्नीसवीं शताब्दी में हुए। इन ग्रंथों में से अधिकांश सत्रहवीं और उन्नीसवीं शताब्दी के लिखे हुए हैं, केवल एक ग्रंथ १६वीं शताब्दी का लिखा हुआ मिला। इस रिपोर्ट में तुलसीकृत रामचरित-मानस, कुतबन की मृगावती, जायसी की पदमावत, चंद के पृथ्वीराजरासो तथा नरपति नाल्ह के बीसलदेव-रासो का विशेष रूप से विवेचन किया गया है। यह रिपोर्ट सन् १९०३ में प्रकाशित हुई।

सन् १९०१ की रिपोर्ट में १२९ ग्रंथों की नोटिसें हैं जिनके रचयिता ७३ महाशय हैं। इनमें से एक १२वीं, १ चौदहवीं, १४ सोलहवीं, १२ सत्रहवीं, १९ अट्ठारहवीं और १५ उन्नीसवीं शताब्दी के हैं। १३ ग्रंथकारों के समय और पाँच ग्रंथों के कर्त्ताओं के नाम का पता न लग सका। अधिकांश ग्रंथ १९वीं शताब्दी के लिखे

हुए हैं। इस वर्ष में सन् १६०४ की लिखी हुई रामायण की एक प्रति का पता लगा। इसका बालकांड इस सन् का लिखा है, शेष कांडों की लिपि आधुनिक है। राजापुर के प्रसिद्ध अयोध्याकांड की भी नोटिस इसी वर्ष में की गई। इस वर्ष में चंद के रासो की दस प्रतियों का पता लगा जिससे यह पता चला कि रासो के नाम से कई नवीन ग्रंथों का निर्माण हुआ है, जिनमें से एक ग्रंथ परमालरासो के नाम से नागरी-प्रचारिणी सभा ने प्रकाशित किया है। कृष्णगढ़ के महाराज सावंतसिंह, उपनाम नागरीदास के २० ग्रंथों के नोटिस तैयार किए गए तथा सदल मिश्र के नासिकेतोपाख्यान का भी इसी वर्ष में पहले-पहल पता लगा। जटमल की गोरा-बादल की कथा की भी इसी वर्ष में नोटिस की गई। कृष्णगढ़ के महाराज राजसिंह की पुत्री सुंदर कुँअरि के १० ग्रंथों का विवरण भी इस वर्ष में तैयार हुआ। यह सुंदर कुँअरि नागरीदास की बहन थीं। विशेष विवरण रिपोर्ट से मिलेगा। यह रिपोर्ट सन् १९०४ में प्रकाशित हुई।

सन् १९०२ में जोधपुर के राजकीय पुस्तकालय में रक्षित ग्रंथों की नोटिसें की गईं तथा मिर्जापुर और गोरखपुर में हस्तलिखित ग्रंथों की खोज की गई। सब मिलाकर १२५ पुस्तकों की जाँच की गई। इनमें से ११५ ग्रंथों के ७३ रचयिताओं का पता चला जिनमें से १ बारहवीं, १ तेरहवीं, १ चौदहवीं, २ पंद्रहवीं, ६ सोलहवीं, १५ सत्रहवीं, १६ अट्ठारहवीं और १३ उन्नीसवीं शताब्दी के हैं। १८ कवियों के समय और १० ग्रंथकर्त्ताओं के नाम का पता न लग सका। परिशिष्टों में भी २१७ ग्रंथों का उल्लेख है। अधिकांश ग्रंथ

१८वीं शताब्दी के लिखे हैं। इस वर्ष में गोरखनाथ के ग्रंथों का तथा जायसी के अखरावट का पहले-पहल पता चला। इन सबका विवरण रिपोर्ट में विस्तार से दिया गया है। इनके अतिरिक्त इस रिपोर्ट में महाराज अनीतसिंह, दादूदयाल, ध्रुवदास, हरिराम, महाराज जसवंतसिंह, महाराज मानसिंह, सुन्दरदास आदि के अनेक ग्रंथों का विवरण है। यह रिपोर्ट सन् १९०६ में प्रकाशित हुई।

सन् १९०३ में महाराज काशिराज के पुस्तकालय की जाँच की गई। यह कार्य इस वर्ष समाप्त नहीं हो सका, अतएव रिपोर्ट में कोई विशेष विवरण नहीं दिया गया है। केवल इतना ही लिखा है कि १७७ पुस्तकों की इस वर्ष में जाँच हुई। इनमें से १२७ पुस्तकों का पूरा विवरण परिशिष्ट में तथा ५९ का संक्षेप में उल्लेख दिया गया है। ये १२७ ग्रंथ ७७ ग्रंथकारों के हैं जिनका समय इस प्रकार है—

१४वीं शताब्दी	१	१८वीं शताब्दी	२६
१६वीं ,,	३	१९वीं ,,	२३
१७वीं ,,	१८	अज्ञात	६

अधिकांश ग्रंथों का लिपि-काल १८वीं और १९वीं शताब्दी है। यह रिपोर्ट सन् १९०५ में प्रकाशित हुई।

सन् १९०४ में १५८ पुस्तकों की १७७ प्रतियों की जाँच हुई। इनमें से ११४ पुस्तकों के पूरे नोटिस तैयार किए गए और ४४ प्रतियों का परिशिष्ट में उल्लेख किया गया। १४४ ग्रंथों के ८१

रचयिताओं के नाम का पता लगा जिनमें ७२ का समय इस प्रकार है—१६वीं शताब्दी के १, १७वीं शताब्दी के १५, १८वीं शताब्दी के १८, और १९वीं शताब्दी के ३८। सन् १९०३ और १९०४ दोनों वर्षों का विवरण एक साथ लेने से यह ज्ञात होता है कि महाराज काशिराज के पुस्तकालय में २९८ पुस्तकों की ३६८ प्रतियाँ हैं। इनमें से २६७ ग्रंथों के १७५ रचयिताओं का पता चला, जिनके समय इस प्रकार हैं—१२वीं शताब्दी का १, १४वीं शताब्दी का १, १६वीं शताब्दी के ८, १७वीं शताब्दी के ३०, १८वीं शताब्दी के ५० और १९वीं शताब्दी के ५७। १९वीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में साहित्यिक कार्यों के ४ क्षेत्र थे—बनारस, बुंदेलखंड, बघेलखंड और अवध। इन दो वर्षों में जो कार्य हुआ उसमें निम्नलिखित कवियों का विशेष रूप से विवरण दिया गया है—

अग्रनारायण, आनंद, भिखारीदास, ब्रह्मदत्त, ब्रजलाल, धनीराम, दीनदयाल गिरि, गजराज, गणेश, गोकुलनाथ, गोपीनाथ, जानकीप्रसाद, काष्ठजिह्वास्वामी, लाल, लालमुकुंद, मणिदेव मनियारसिंह, रघुनाथ बंदीजन, रामसहाय, साहबदीन, सरदार, सुंदरदास और ठाकुर। यह रिपोर्ट सन् १९०७ में प्रकाशित हुई।

सन् १९०५ में खोज का काम बुंदेलखंड में हुआ। इस वर्ष में ९८ पुस्तकों की नोटिसें रिपोर्ट में सम्मिलित की गईं। इनमें से ९७ ग्रंथों के ७७ रचयिताओं का पता लगा जिनका समय इस प्रकार है—१६वीं शताब्दी में ५, १७वीं शताब्दी में १२, १८वीं शताब्दी में ३४ और १९वीं शताब्दी में २१। पाँच ग्रंथकारों के समय का पता

नहीं लगा। इस रिपोर्ट में बुंदेलखंड का इतिहास संक्षेप में दिया गया और इन कवियों पर विशेष नोट लिखे गए—स्कंदगिरि, बदन, वंशीधर, भोजराम, बिहारीलाल, देवीदत्त, दुर्गाप्रसाद, इंद्रजीत, प्रयागीलाल, गुलालसिंह, खुमान, गुमान, फतहसिंह, हरप्रसाद, हरिसेवक, (केशवदास का प्रपौत्र) मेदिनीमल्ल, हठी, जीवन मस्तने, केशवराज, कुमार मणि, लक्ष्मीप्रसाद, पजनेस, मोहनदास मोहनलाल, पद्माकर, प्राणनाथ, प्रताप, प्रेमरतन, रूपसाहि, सुदर्शन और ठाकुर। यह रिपोर्ट सन् १९०८ में प्रकाशित हुई।

सन् १९०६-०८ की रिपोर्ट तीन वर्षों की है। अब तक रिपोर्ट प्रतिवर्ष तैयार की जाती थी, पर इसमें कई अड़चनें होती थीं। यदि कहीं पुस्तकों की जाँच होती रहती थी और वर्ष (३१ दिसंबर) समाप्त हो जाता था तो काम अधूरा रह जाता था। प्रतिवर्ष में नई खोज से पिछली रिपोर्टों में दी हुई बातों के संशोधन की आवश्यकता हो जाती थी। यह सोचा गया कि तीन तीन वर्षों की अवधि रख दी जाय तो यह काम सुगमता से हो सके। गवर्मेंट ने सभा के प्रस्ताव को स्वीकार कर लिया और सन् १९०६ से यह नियम बना कि तीन तीन वर्षों की रिपोर्ट लिखी जाया करे। इसका पालन अब तक हो रहा है। सन् १९०६-०८ में खोज का काम विशेष रूप से बुंदेलखंड में होता रहा। इन तीन वर्षों में १,०८३ पुस्तकों की जाँच की गई। इनमें से ८७३ पुस्तकें ४४७ कवियों की हैं। इन ४४७ ग्रंथकारों में से १२० बुंदेलखंड के, और १३१ बाहर के हैं और शेष ऐसे हैं जिनके निवास-स्थान का पता न लग सका। २१०

पुस्तकें ऐसी मिलीं जिनके रचयिताओं का नाम न जाना जा सका। इनका समय इस प्रकार है :—

स्थान	१२वीं शताब्दी	१३वीं शताब्दी	१४वीं शताब्दी	१५वीं शताब्दी	१६वीं शताब्दी	१७वीं शताब्दी	१८वीं शताब्दी	१९वीं शताब्दी	अज्ञात
बुंदेलखंड के कवि					१५	६८	९६	९४	२६
बुंदेलखंड के बाहर के कवि	१	१		२२	२९	५६	६८	२७	३७ २८
अनिश्चित स्थान के कवि					५	१३	१६	३	८९

इस रिपोर्ट में १५ व्यक्तियों का उल्लेख किया गया है, जो कवियों के आश्रयदाता तथा संरक्षक थे। उनके नाम ये हैं—राजा मधुकरशाह, कुँअर इंद्रजीत (ओड़छा), राजा सुजानसिंह (ओड़छा), राजा छत्रसाल (पन्ना), राजा उदोतसिंह (ओड़छा), राजा पृथ्वीसिंह (ओड़छा), कुँअर पृथ्वीराज (दतिया), राजा अमानसिंह (पन्ना), राजा हिंदूपत (पन्ना), राजा विक्रमाजीत (ओड़छा), विजय विक्रमाजीत बहादुर (चरखारी), राजा लक्ष्मणसिंह (बिजावर), राजा रतनसिंह (चरखारी), राजा परीछत (दतिया) और राजा हिंदूपत (समथर)। इनका समय १५५० से लेकर १८९० तक होता है।

बुंदेलखंड के कवियों में केशवदास, व्यास, मेघराज, अक्षर अनन्य, गोरेलाल, मनचित, हरिकेश, हंसराज, रूपसाहि, रामकृष्ण, मान या खुमान, प्रतापसाहि, पद्माकर, नवलसिंह, भोज और हरिदास का विशेष रूप से उल्लेख किया गया है। बाहर के कवियों में से निम्नलिखित कवि मुसलमान बादशाहों के आश्रित थे—

सुंदर, श्रीपत भट्ट, शिरोमणि मिश्र, पुहकर और वान कवि। यह रिपोर्ट सन् १९१२ में प्रकाशित हुई।

इस प्रकार हिंदी-पुस्तकों की खोज का काम आरंभ करके मैंने ९ वर्षों तक उसे चलाया और उस कार्य की सात रिपोर्टें लिखीं। सन् १९०८ के बाद पं० श्यामविहारी मिश्र इस कार्य के निरीक्षक हुए, उनके छोड़ने पर पंडित शुकदेवविहारी ने कुछ काल तक इसका निरीक्षण किया। तब डॉक्टर हीरालाल ने इस काम का भार लिया। अब डॉक्टर पीतांबरदत्त बड़थ्वाल इसकी देख-रेख करते हैं। मेरा सदा से यह ध्येय रहा है कि काम को चलाकर उसे दूसरों को सौंप देना, जिसमें कार्य करनेवालों की संख्या बढ़ती जाय और कभी किसी दुर्घटना के कारण रुक न जाय।

इस खोज के काम से हिंदी-साहित्य को कितना लाभ पहुँचा है और कवियों के समय आदि के निर्णय में कितना महत्त्वपूर्ण अनुसंधान हुआ है इसके दो-एक उदाहरण मैं देना चाहता हूँ।

(१) भूपतिकृत दशमस्कंध भागवत का निर्माणकाल सन् १९०२ की रिपोर्ट में संवत् १३४४ दिया गया था, परंतु अग्रलिखित कारणों से १७४४ मानना ठीक जान पड़ता है।

(क) इस ग्रंथ की अट्ठारहवीं शताब्दी से पूर्व की कोई प्रति अभी तक नहीं मिली।

(ख) इसकी भाषा परिमार्जित और आधुनिक ब्रजभाषा के ही समान है।

(ग) इसमें 'ब्रजभाषा' और 'गुसाईं' शब्दों का प्रयोग हुआ है जो कि सोलहवीं शताब्दी से पूर्व व्यवहार में नहीं आते थे।

(घ) पंचांग बनाकर देखने से संवत् १३४४ का बुधवार अशुद्ध और संवत् १७४४ का चंद्रवार शुद्ध निकलता है।

(ङ) उर्दू-प्रतियाँ हिंदी-प्रतियों की अपेक्षा पुरानी मिलती हैं जिनमें निर्माण-काल संवत् १७४४ दिया हुआ है। हिंदी और उर्दू-प्रतियों में निर्माण-काल इस प्रकार है :—

हिंदी-प्रति में—संमत तेरह सौ भये चारि अधिक चालीस।
　　　　मरगेसर सुध एकादसी, बुधवार रजनीस॥

उर्दू-प्रति में—संवत सत्रह सै भये, चार अधिक चालीस।
　　　　मृगसिर की एकादसी, सुक्रवार रजनीस॥

(च) उर्दू से हिंदी-लिपि में लिखने और लिपिकर्त्ता के काशी-निवासी होने के कारण बहुत-से शब्दों को बिगाड़कर अवधी रूप दे दिया गया है; अवीधी, जवइ, बहीनी और चारी इत्यादि इसके प्रत्यक्ष उदाहरण हैं। उक्त भागवत में आदि से अंत तक ऐसे प्रयोग भरे पड़े हैं। दीर्घ ऊकार का प्रयोग इस प्रति में कहीं नहीं किया गया; अतः भाषा प्राचीन-सी मालूम होती है। परंतु यथार्थ में परिष्कृत है।

(१९०६-०८—१३८) में वर्णित रामचरित्र रामायण भी उक्त भूपति-कृत ही बताई गई है। उसमें संवत् आदि कुछ नहीं है और न वह इन भूपति की बनाई हुई ही प्रतीत होती है। उपर्युक्त कारणों से भूपति का कविता-काल संवत् १७४४ के लगभग ही माना गया है।

(२) सन् १९०३ और १९०४ की रिपोर्टों में रसदीप काव्य के कवींद्र और राजा गुरुदत्तसिंह अलग-अलग रचयिता माने गए हैं, परंतु यथार्थ में कवींद्र ने उक्त ग्रंथ संवत १७९९ में रचा था और अमेठी के राजा गुरुदत्तसिंह (उप० भूपति) को समर्पित किया था, जो कि कवींद्र कवि के आश्रयदाता थे। वे रसदीप-काव्य के रचयिता नहीं थे। कवींद्र कवि का उपनाम प्रतीत होता है।

(३) सन् १९०० में आदित्य कथा बड़ी का रचयिता गौरी कवि माना गया है; परंतु गौरी, भाऊ कवि की मा का नाम था। ग्रंथकार ने स्वयं अपने ग्रंथ में लिखा है—

अगरवाल यह किया बखाण।
गौरी जननी तिहु वणगिरि थान ॥
गर्ग हो गोत मलूकौ पूत।
भावु कवि जन भगत सजूत ॥

इससे विदित होता है कि इस ग्रंथ के रचयिता गर्ग गोत्री, अग्रवाल वैश्य, भाऊ कवि त्रिभुवन गिरि निवासी थे; उनकी मा का नाम गौरी और पिता का नाम मलूका था।

(४) सन् १९०६-०८ की रिपोर्टों में 'अनवर-चंद्रिका' अनवरखाँ-

कृत लिखी गई है, जो कि अशुद्ध है। यह ग्रंथ अनवरखाँ के आश्रित शुभकरण कवि ने अपने आश्रयदाता के नाम से लिखा था। (१९०९-११—३१) में ग्रंथकर्त्ता का नाम शुभकरण ठीक दिया गया है, जैसा कि ग्रंथ में कवि ने स्वयं भी वर्णन किया है।

(५) सन् १९०६-०८ में वर्णित जन अनाथ तथा अनाथदास भिन्न माने गए हैं; पर उनका ग्रंथ 'विचार माला' एक ही है, अतः दोनों एक ही हैं। इस ग्रंथ का निर्माण-काल संवत् १८०३ के स्थान में १७२६ चाहिए था। (१९०९-११—७) में कथित अनाथदास भी यही हैं। अतः तीनों को एक मान कर ही लिखा गया है।

(६) सन् १९०६-०८ में 'प्रेमरत्नाकर' रतनपाल भैया-कृत बतलाया गया है, परंतु यथार्थ में यह ग्रंथ देवीदास-कृत है जो कि रतनपाल भैया के आश्रित थे। राजनीति के कवित्त के रचयिता (१९१६-०८—२७, १९०२—१ और १९०२—८२) में वर्णित देवीदास और ये देवीदास एक ही थे; अतः चारों को एक ही माना गया है।

यह दिखाने का उद्देश्य इतना ही है कि जितनी अधिक खोज होती जायगी, उतनी ही नई बातों का पता लगता जायगा। सन् १९०० से लेकर १९११ तक की रिपोर्टों के आधार पर मैंने कैटोलोगस कैलोलोगरम के ढंग पर एक संक्षिप्त सूची तैयार की थी, जिसे संवत् १९८० में काशी-नागरी-प्रचारिणी सभा ने प्रकाशित किया।

सन् १९२० में सभा ने विद्वानों की एक उपसमिति इसलिये बनाई थी कि खोज का जो काम अब तक हुआ है उस पर विचार करके वह सभा को सम्मति दे कि पुरानी पुस्तकों के अनुसंधान,

संरक्षणता और प्रकाशन के संबंध में किन सिद्धांतों को ध्यान में रखकर काम करें। इस उपसमिति ने एक बड़ी ही उपयोगी रिपोर्ट तैयार की। अनुसंधान का काम तो इस समिति द्वारा निर्धारित नीति के अनुसार हो रहा है, पर संरक्षण और प्रकाशन का कार्य व्यय-साध्य है और जब तक इसके लिये पर्याप्त धन न मिले तब तक यह काम सुचारु रूप से नहीं चल सकता।

२२ सितंबर सन् १९१४ में सर जार्ज ग्रियर्सन ने एक पत्र में संयुक्त-प्रदेश की गवर्मेंट को लिखा था—

"I am unable to agree with those who consider that the reports in their present form are valueless. On the contrary I think that they have very considerable value as works of reference, and I have often used them myself and derived assistance from them.

ऐसा जान पड़ता है कि किसी महोदय ने गवर्मेंट को लिखा था कि ये रिपोर्टें किसी काम की नहीं हैं, इस काम को बन्द कर देना चाहिए। यद्यपि उस समय अनुमान किया गया था कि यह किस महोदय की कृपा का फल है, तथापि निश्चित बात के जाने बिना किसी का नाम लेना अनुचित है। उनके लिखने पर सर जार्ज ग्रियर्सन से सम्मति ली गई थी तब उन्होंने उत्तर देते हुए ऊपर उद्धृत वाक्य लिखे थे।

इस खोज के काम तथा रिपोर्टों की अनेक विद्वानों ने प्रशंसा की है। उनमें से कुछ सम्मतियाँ मैं आगे उद्धृत करता हूँ।

(१) डाक्टर रुडाल्फ हार्नली ने १० दिसंबर, १९०३ के पत्र में मुझे लिखा था—

"The last mail brought me a copy of your annual report, on the search of Hindi manuscripts for the year 1900, and I may write to congratulate you heartily on its successful and scholarly production.

"Your discussion of the case of the Prithviraj Raso interested me particularly, also the documents in the appendix. I do hope it may soon be possible to publish a complete edition of the epic. Of course the real desideratum would be a critical edition; but even a mere reprint of the old manuscript (No. 63 of Samvat 1640) would be of much use, provided an exhaustive list of all the various readings from all the other existing manuscripts were added. It would then be possible to form a more decided and definite opinion of the genuineness of the work. That it must be genuine substantially, your remarks sufficiently show. But one would like to know two points, (1) how much there is of interpolation and comparatively (unhistorical) addition and (2) how far the language has retained its original character or has been modernised.

(२) पेरिस से आगस्टस वार्थ महाशय ने अपने २२ फरवरी, १९०४ के पत्र में लिखा था—

I have received indeed from the Government of the United Provinces your annual report on the search for Hindi manuscripts for the year 1900 and I have read it through with the greatest interest. It is a quite new field and a most promising one, you are here opening by this able performance of yours. It is indeed the best direction that could be given for applying the critical methods to the study of your vernacular literature, and this most useful inquiry can only be done by your country-men. They alone can give us reliable text and work out thoroughly the intricacies of your later and local history. And it is to be hoped that they will follow in this the intimation you are here giving them.

The many Jain works in your list are quite new to me. Such works are known to be very numerous in Gujrati and Marathi, but in Hindi they could only be surmised.

But the most interesting parts of your report are the historical poems and the very able and suggestive way you are dealing with them. Your vindication of the Prithviraj Raso that it is not the wholesale forgery which Pandit Syamal

Das pretended it to be, your explanation of the Anand Vikram Samvat and your whole discussion on the chronology of the poem are very tempting. My own acquaintance with Hindi is too faint, to allow me to decide that manysided question—for it is not only a chronological one—but it seems to me, to say the least, that the question has been put by you on a new basis. The first point perhaps to be settled would be the perfect authenticity of the new documents of which you have given facsimilies. On the other hand there is methinks little room, if any to doubt that the Visala and Vigraha of the Delhi pillar are one and the same king, and that this Vigraha, son of Avalla, is the same as the Vigraha-raja, son of Arnoraja of the Ajmere inscription. But was there a former Visala amongst the Maharajas of Ajmere. That is another question which must remain over.

(३) बर्लिन से प्रोफेसर आर० पीशल अपने २७ मार्च, १९०४ के पत्र में यह लिखते हैं—

The annual report sent to me by Government has reached me in due time but I could not go through it but now during the Easter vacations. I am glad to say that I have learned much from your report which is done very well and in a

thoroughly scientific way. Unfortunately the knowledge of the modern languages of India is in Europe not great. When writing my Prakrit Grammar I often have felt the want of a sufficient knowledge of the vernaculars. But the material available in Germany is very small and without the help of a native-teacher it is almost impossible to master the vernacular. I have no doubt that works like your report will contribute much to a better knowledge of the vernacular literature of India.

मार्च, सन् १९०६ में लंदन की रायल एशियाटिक सुसाइटी की त्रैमासिक पत्रिका में १९००, १९०१, १९०२ और १९०३ की रिपोर्टों की समालोचना डाक्टर रुडाल्फ हार्नली ने प्रकाशित की थी। यह समालोचना एक प्रसिद्ध विद्वान्-द्वारा लिखी हुई होने के कारण बड़े महत्त्व की है। अतएव मैं उसे यहाँ उद्धृत करने का साहस करता हूँ।

"As is well-known, an active search for Sanskrit manuscripts under the authority and at the cost of the Government of India has been carried on for very many years throughout the various provinces of India. It has led to most valuable results and has shed a flood of light on the still-existing manuscript treasures of the vast Sanskrit literature of India. A similar search was instituted, at least

in the province of Bengal, for Arabic and Persian manuscripts. But it lacked the needful enterprise, and never came to much. It may be hoped that now under the direction of Dr. Denison Ross, the present energetic Principal of the Calcutta Madrasah, it may begin to rival in usefulness the Sanskrit branch of the Search.

"All this time the vernaculars of India were left out in the cold. Probably it was thought that in respect of them there was little or nothing to search for. The conviction that this was a great error has gradually forced itself on all who have sympathised with the newly-awakened interest in the Indian vernaculars. In Bengal, a commendable effort has begun to be made in connection with the search for Sanskrit manuscript, by its present able Director, Mahamahopadhyaya Hara Prasad Shastri, the learned Principal of the Sanskrit College in Calcutta who is devoting a portion of his attention to the collection of Bengali manuscripts. But it is the Hindi vernacular which has been the first to secure for itself the advantage of a distinct organization for the search of its manuscripts. The credit of this achievement, as we learn from the introduction to the first annual report (1900), is due to an entirely native Indian agency, the Nāgari-

Prachārini Sabhā of Benares. After an abortive attempt to interest the Asiatic Society of Bengal and the Government of India in its scheme of collecting Hindi manuscripts, it met with well-deserved success in its appeal to the Government of the United Provinces of the North-West and Oudh. That Government sanctioned an annual subsidy of Rs. 400 to the Sabha, and also undertook to publish the annual reports of its search. This was in 1899, and since then four reports have been published by Mr. Shyam Sundar Das, the able Secretary of the Sabha. The choice of this scholar for the direction of the search is a very happy one. Mr. Shyam Sundar Das is an excellent Hindi scholar, who has already made himself favourably known by several welcome editions of important Hindi works. Among these may be mentioned Lal Kavi's Chhatra Prakāsh, a Bundelkhand historical poem, dealing with the life of Chhatrasāl Bundelā. This edition, Mr. Shyam Sundar Das has provided with an excellent introduction, in connection with which as well as with the "Hindi Notes" in the reports, the only regret one cannot help feeling is that its author should not have seen his way to discard the artificial Hindi loaded with Sanskrit Tatsamas which is still so dear to the literati of

India, and which, in No. 34 of the report for 1901, Lalluji Lala is said to have 'invented' in 1800. The Sabha and its able Secretary, might add to their laurels by taking the initiative, for which they are so well fitted, in raising up a true literary Hindi, presenting in a polished form the living language of the people, such a language as would be both intelligible and enjoyable by the people at large and not be merely the jargon of a literary class. The literary Hindi which we should like to see created would be on the pattern of the language of what Mr. Shyam Sundar Das calls the Augustan period of Hindi literature, and of which the famous Ramayan of Tulsidas is one of the best representatives.

"The case of this beautiful poem well illustrates the usefulness of a search for Hindi manuscripts. That search has brought to light several extremely old manuscripts of the poem, among them one (No. 22 of 1901) was discovered in Ajodhya, the first Canto of which was written in 1604 A.D., *i.e.*, 19 years prior to the death of Tulsidas. The poet lived for many years in Ajodhya, where he began the composition of his epic in 1574 A.D., it is, therefore, quite possible that this canto may be in the actual hand-

writing of Tulsidas himself. It is said that Tulsidas made two copies of his Ramayan one of which he took to Rajapur in Banda. Rajapur manuscript is described as No. 28 in the Report for 1901. It does not appear to bear any date and contains no more than the second canto (Ajodhya Kand). But for some water-marks, it is in fairly good condition. There is a story that it 'was once stolen, but the thief, when pursued, threw the entire bundle into the Jumna, whence only one book, the Ajodhya Kand could be rescued' (Report 1900, page 3),—a story which the condition of the manuscript fragment would seem to corroborate. Mr. Shyam Sundar Das, who has compared the two very old manuscripts, considers that they are both in the same handwriting, and were written by Tulsi Das himself. But by adding two reduced facsimile pages of each of the two manuscripts to his Report for 1901, he has made it possible for any one to judge for himself. If his opinion should prove to be correct, we should be in possession of portions of both the traditional autographs of Tulsi Das and it would follow that the Malihabad copy which is also claimed by its owner to be in his handwriting cannot be genuine.

And this, indeed, would seem to be the truth, if the Report that it contains many Kshepakas, or interpolations, should be true (see Report 1900, page 3; 1901, page 2). In this connection, however, one point may be worth noting. In the Rajapur manuscripts व and य, when they signify va and ya (as distinguished from ba and ja) are invariably marked by subscribed dot; thus on the upper page, second line नयन Nayana, fifth line भयेउ Bhayeu and second line अवधि Avadhi; on the lower page, first and third lines प्रिय Priya and seventh line अवनि Avani. In the Ajodhya manuscripts, it is only va which is so marked; *e.g.*, upper page, third line जीवन jivana, sixth line गावह gavaha, ninth line, संवत samvat, but second line भयेउ bhayau without a dot. It would be desirable to have larger portions of the two manuscripts in facsimile to compare.

"With reference to another celebrated Hindi work, the search has proved of much usefulness. This is the Prithviraj Rasou, the so-called epic or ballad chronical of Prithviraj Chauhan by Chand Baradai, composed towards the end of the 12th century, the oldest work written in Hindi or indeed in any of the modern North Indian vernaculars. The search brought to light in

Mathura a very old manuscript dated 1590 A.D. (No. 63 of 1900), and on the basis of it as well as three others already known good manuscripts, the Nagari Pracharini Sabha has commenced to publish a trustworthy edition of the hitherto much disputed text, the preparation of which is in the experienced hands of Mr. Shyam Sundar Das, Pt. Mohanlal Vishnulal Pandya and Babu Radha Krishna Das. This much needed work, which, in spite of its lengthiness, it may be hoped will be carried to a successful conclusion. The genuineness of the chronical, once unhesitatingly accepted, was first denied by Kaviraj Shyamal Das in 1886 in an article contributed to the journal of the Asiatic Society of Bengal and has since remained greatly suspect on the ground mainly of the incorrectness of its dates. In his report for 1900, Mr. Shyam Sundar Das made an attempt, as it appears, successfully, to rehabilitate the ancient chronicle. The clue to it discovered by Pt. Mohanlal Vishnulal Pandya, is furnished by the chronicle itself. In his first canto, Chand Bardai explains that his dates are not stated in the ordinary Vikram era, but in a modification of it adopted by Prithiviraj and called the Anand Vikram era. Several explanations are suggested of this name,

none of which is quite satisfactory; but what appears to be certainly true is that as Mr. Shyam Sundar Das shows all the dates given in the Rasau work out correctly if the Anand Vikram era is taken to commence 90-91 years later than the ordinary Vikram era, called by way of distinction the Sanand Vikram (*e. g.*, in No. 41 of 1900, page 40). It follows, therefore, that any years in the former era may be converted into the corresponding years of the Christian era by adding 33. At the same time, it is not denied that the text has suffered by occasional interpolations of incidents as well as by modernisation of the language. The object of the edition which the Sabha has undertaken is precisely to furnish scholars with the means of settling the exact literary and historical value of the epic.

"The term Hindi, as employed in the name of the search for Hindi manuscripts, is used in its old sense, in which it embraces the languages of the whole of the central portion of Northern India. The search, therefore, includes manuscripts written in Bihari, Rajputani, and Marwari, and it is apparently intended to include even Punjabi. From the point of view of practical utility, seeing that

it secures a vide sweep of the search, one cannot help condoning the abuse of the term.

"Altogether 761 separate works or books, appear to be noticed in the four annual Reports. The numeration, however, is not quite clearly stated. The number of separate "Notices" is certainly smaller. Moreover, the search has produced a considerable number of manuscripts which have not been "noticed" at all, as being "of no historical or literary value." "The search has already produced some very valuable results, both from the literary and antiquarian point of view. Some great literary finds have been already mentioned : Manuscripts of Tulsi Das's Ramayan and Chand's Prithviraj Rasau. To these may be added two old and important manuscripts of the Padmavati by Malik Mohammad (c. 1540 A. D.) and of the Satsai by Bihari Lal Chaube (c. 1650 A.D.), dated respectively 1690 and 1718 A.D.

"The oldest manuscripts brought to light by the search is a manuscript of the Prithviraj Rasau (No. 63 of 1900) which is dated in 1590 A.D. It appears to be the only manuscript of the 16th. century as yet discovered by the search. The next oldest is dated in 1604 A.D., and is a manuscript of Tulsi Das's Ramayan (No. 22 of 1900). There

appear to be 32 other manuscripts of the 17th. century. They belong to the years 1612 (7 manuscripts), 1614, 1635, 1647, 1649 (14 manuscripts), 1651, 1673, 1683 (3 manuscripts), 1686, 1688, 1690.

"........On the whole the reports reflect great credit on their compiler and on the Nāgari Prachārini Sabhā to whose public-spirited enterprize we owe them.

सन् १९१२ में इस बात की आशंका हुई कि कहीं गवर्मेंट कुचालियों के फेर में पड़कर वार्षिक सहायता बंद न कर दे। अतएव मैंने डाक्टर ग्रियर्सन और डाक्टर हार्नली को पत्र लिखकर पूछा कि अब तक जो खोज का काम हुआ है वह कैसा है और भविष्य में इसे कैसे चलाना चाहिए। इन दोनों महानुभावों ने मेरे पत्र का उत्तर दिया। डाक्टर ग्रियर्सन ने लिखा—"I am very sorry indeed to learn from your letter that it is proposed to cease the Government subvention towards the search for Hindi manuscripts. The report hitherto issued have been most valuable and it would be a serious loss to scholarship if they were to cease." एक दूसरे पत्र में उन्होंने लिखा—You are quite at liberty to quote me as saying that the discontinuance would in my opinion be a great loss to oriental studies.

डाक्टर हार्नली ने यह लिखा—"Your society is doing most valuable work and it would be a great pity

if for lack of funds it should come to end at this stage. What you have done for Bundelkhand should be done for the whole Hindi area. From the scientific point of view Hindi is the most important North Indian vernacular and has the longest history; it has not only the largest literature but one which reaches furthest back to the very time when the modern vernaculars emerged from the older Prakrit......... I am glad to hear that your society is going to submit an appeal to the Government to continue the grant. I wish it every success. The search instituted by your society is a noble work, the first example. I believe, of scientific work of this kind being undertaken by Indian gentlemen on their own initiative and under their own direction. It deserves all the sympathy and encouragement that can be given to it.

इन सम्मतियों को उन सम्मतियों से मिलाना चाहिए जो समय समय पर सरस्वती पत्रिका में प्रकाशित हुई हैं। उनसे हमारे भारतीय दृष्टिकोण और विदेशीय दृष्टिकोण का अंतर स्पष्ट हो जायगा। अस्तु, सभा का उद्योग सफल हुआ और गवर्मेंट से सहायता मिलती रही।

(७)

कुछ अन्य कार्य

(१) सन् १८९९ में इंडियन प्रेस के स्वामी बाबू चिंतामणि घोष ने सभा से यह प्रार्थना की कि वह उनके लिये रामचरितमानस

का एक शुद्ध संस्करण तैयार कर दे। सभा ने सोचा कि अब तक जितने संस्करण रामचरित-मानस के प्रकाशित हुए हैं उनमें प्रकाशकों या टीकाकारों ने अपनी-अपनी रुचि और बुद्धि के अनुसार पाठ बदल डाले हैं। पाठों के परिवर्तन के साथ ही साथ बहुत-सी क्षेपक-कथाएँ भी इसमें सम्मिलित हो गई हैं। यह बात यहाँ तक बढ़ी है कि सात कांडों के स्थान में आठ कांड हो गए। इसलिये सभा ने इंडियन प्रेस के स्वामी का प्रस्ताव बड़े उत्साह और आनंद के साथ स्वीकार किया और इस कार्य को करने के लिये पाँच सभासदों की एक उपसमिति बना दी जिसमें मैं भी था। इस उपसमिति ने नीचे लिखी प्रतियों को आधार मानकर इस कार्य को आरंभ किया।

(क) केवल बालकांड संवत् १६६१ का लिखा हुआ, यह अयोध्या में एक साधु के पास मिला था। इसका पाठ बहुत शुद्ध है। बीच-बीच में हरताल लगाकर पाठ शुद्ध किया गया है। ऐसा कहा जाता है कि गोसाईं जी ने स्वयं इस प्रति का संशोधन किया था।

(ख) राजापुर का अयोध्याकांड। यह कांड स्वयं तुलसीदास के हाथ का लिखा कहा जाता है। ऐसी कथा है कि पहले यहाँ सातों कांड तुलसीदास जी के हाथ के लिखे हुए थे, परंतु एक समय एक चोर उनको लेकर भागा। जब इस बात का पता लगा और लोगों ने उसका पीछा किया तब उसने समस्त पुस्तक को जमुना जी में फेंक दिया। बहुत उद्योग करने पर केवल एक कांड निकल सका जिस पर अब तक पानी के चिह्न वर्तमान हैं।

अयोध्या और राजापुर की पुस्तकों का बड़ा मान है। पर

छान-बीन करने पर यह सिद्धांत स्थिर होता है कि अनुमानत: तुलसीदास के साथ में कोई लेखक रहता था जो उनकी पुस्तकों की नकल करता था। स्वयं तुलसीदास जी के हाथ का लिखा उनका कोई ग्रंथ नहीं मिला है। उनके अक्षरों की प्रामाणिक नकल दो जगह है। एक तो उस पंचनामे में जो उन्होंने अपने मित्र टोडर के पुत्र और पौत्रों के बीच बँटवारे में लिखा था और जो महाराज-काशिराज के यहाँ रक्षित कहा जाता है। इसकी फोटो-प्रतिलिपि पहले-पहल डाक्टर ग्रियर्सन ने अपने Modern Vernacular Literature of Hindustan में छापी थी। दूसरी गोसाईं जी के हाथ की लिखी वाल्मीकीय रामायण की प्रति है। इसका एक कांड बनारस के संस्कृतकालेज के सरस्वतीभवन में रक्षित है। ये दोनों लेख अत्यंत प्रामाणिक हैं, इनके विषय में संदेह का स्थान नहीं है। दोनों कागजों की प्रतिलिपि मैंने "गोस्वामी तुलसीदास" नामक ग्रंथ में दी है जिसे मैंने डाक्टर पीतांबरदत्त बड़थ्वाल के सहयोग में प्रयाग की हिंदुस्तानी एकाडमी के लिये लिखा है। इसके साथ ही राजापुर और अयोध्या की प्रतियों के फोटो भी दिए हैं। पंचनामे और वाल्मीकीय रामायण के अक्षर एक दूसरे से मिलते हुए हैं, पर वे रामायण की इन दोनों प्रतियों से नहीं मिलते। पंचनामे और वाल्मीकीय रामायण के अक्षर कुछ गोल हैं और अयोध्या तथा राजापुर की प्रतियों के अक्षर लंबोतरे हैं। इसी से यह अनुमान किया जाता है कि ये दोनों प्रतियाँ किसी लेखक की लिखी हुई हैं जो गोसाईं जी के साथ रहता था।

(ग) तीसरी प्रति संवत १७०४ की लिखी हुई महाराज काशिराज के पुस्तकालय की थी। यह संपूर्ण है।

(घ) चौथी प्रति संवत् १७२१ की लिखी हुई है। इसे भागवतदास ने छपवाया है।

(ङ) छक्कनलाल की पुस्तक से लिखवाई हुई प्रति।

इनके अतिरिक्त वंदन पाठक तथा महाराज ईश्वरीप्रसाद नारायणसिंह की छपवाई प्रतियों से भी सहायता ली गई थी।

हम लोग प्रतिदिन संध्यासमय हरिप्रकाश यंत्रालय में मिलते थे और रामायण का पाठ दुहराकर ठीक करते थे।

इस संबंध की एक घटना का मुझे स्मरण है। पंडित किशोरीलाल गोस्वामी उन दिनों सभा के उपमंत्री तथा रामायण उपसमिति के सदस्य थे। वे मासिक रूप में अपने लिखे उपन्यास छापते थे। उन्होंने सभा के छपे कागजों पर एक प्रार्थनापत्र महाराज रीवाँ के पास सहायतार्थ भेजा। हम लोगों में से किसी को इसका पता न था। महाराज रीवाँ ने वह पत्र सभा में भेजकर पूछा कि क्या इसका संबंध सभा से है। उनको तो उत्तर लिख दिया गया कि सभा से इसका कोई संबंध नहीं है पर पंडित किशोरीलाल से कहा गया कि आप उपमंत्री के पद तथा रामायण उपसमिति की सदस्यता से अलग हो जाइए। उनके स्थान पर उपसमिति में पंडित सुधाकर द्विवेदी चुने गए जिन्हें प्रूफ देखने का भार दिया गया, क्योंकि संपादन का कार्य प्रायः समाप्त हो चुका था। इस प्रकार संपादित होकर यह ग्रंथ सन् १९०३ में प्रकाशित हुआ।

महाराज काशिराज के यहाँ एक अत्यंत सुंदर सचित्र रामायण है जिसके चित्रों के बनवाने में एक लाख साठ हजार रुपया खर्च हुआ था। सभा के सभासद् रेवरेंड ई० ग्रीव्स और काशी के कमिश्नर मिस्टर पोर्टर के उद्योग और सहायता से इन चित्रों में से कुछ के फोटो लेने की सभा को आज्ञा मिली। सब चित्र पाँच सौ से ऊपर थे जिनमें से ८८ चित्रों के फोटो लिए गए। इनमें से चुने चुने चित्रों के ब्लाक इस पहले संस्करण में दिए गए। इस ग्रंथ का दूसरा संस्करण सन् १९१५ में प्रकाशित हुआ। फिर सन् १९१८ में मेरी टीका के साथ तीसरा संस्करण निकला। इस संस्करण की कई आवृत्तियाँ छपीं। अब सन् १९३९ में इसकी त्रुटियों का सुधार कर तथा टीका को पूर्णतया दुहराकर और उसकी अशुद्धियों को दूर कर इसका नया संस्करण छप रहा है*। रामायण के इन संस्करणों का बड़ा मान हुआ। इस अंतिम संस्करण के साथ तुलसीदास जी की जीवनी भी विस्तार से लिखी गई है। इसका मूलाधार बाबा वेणीमाधवदास-लिखित मूल गोसाईंचरित्र है। इस चरित्र में तेरह स्थानों पर संवत् दिए हैं जो इस प्रकार हैं—

(१) जन्म—

पंद्रह सौ चौवन विषै, कालिंदी के तीर।
श्रावण शुक्ला सप्तमी, तुलसी धरेउ शरीर॥

---

* यह अब प्रकाशित हो गया।

(२) यज्ञोपवीत—

पंद्रह सै एकसठ माघ सुदी।
तिथि पंचमी औ भृगुवार उदी।
सरयू तट विप्रन यज्ञ किए।
द्विज बालक कहँ उपवीत दिए॥

(३) विवाह—

पंद्रह सै पार तिरासि विषै।
शुभ जेठ सुदी गुरु तेरस पै।
अधराति लगै जु फिरी भँवरी।
दुलहा दुलही की पड़ी पँवरी॥

(४) स्त्री-वियोग—

सत पंद्रह युक्त नवासि सरै।
सु अषाढ़ बदी दसमीहुँ परै।
बुधवासर धन्य सो धन्य घरी।
उपदेसि सती तनु त्याग करी॥

(५) राम-दर्शन—

सुखद अमावस मौनिया, बुध सोरह सै सात।

(६) सूरदास से भेंट—

सोरह सै सौरह लगे, कामद गिरि ढिग बास।
शुभ एकांत प्रदेश महँ, आये सूर सुदास॥

(७) रामगीतावली और कृष्णगीतावली की रचना—

जब सोरह सै वसु बीस चढ्यो।
पदजोरि सबै शुचि ग्रंथ गढ्यो।
तिसु रामगितावली नाम धर्‍यो।
अरु कृष्णगीतावलि राँधि सर्‍यो॥

(८) रामचरितमानस की रचना—

तस इकतीसा महँ जुरे, जोग लगन ग्रह रास।
नौमी मंगलवार बुध ... ...
यहि विधि भा आरंभ, रामचरितमानस विमल

(९) दोहावली की रचना—

... ... चालिस संवत लाग।
दोहावलि संग्रह किए ... ...

(१०) वाल्मीकीय रामायण की प्रतिलिपि—

लिखे वाल्मीकी बहुरि, इकतालिस के माँह।
मगसुर सुदि सतिमी रवौ, पाठ करन हित ताहि॥

(११) तुलसीसतसई की रचना—

माधवसित सिय जन्म तिथि, बयालिस संवत बीच।
सतसैया वरनै लगे, प्रेम वारि तें सीच॥

(१२) टोडर की मृत्यु—

सोरह सै उनहत्तरौ माधवसित तिथि धीर।
पूरन आयु पाइकै, टोडर तजै शरीर॥

(१३) मृत्यु—

संवत् सोरह सै असी, असी गंग के तीर।
श्रावण श्यामा तीज शनि, तुलसी तज्यो शरीर ॥

इन सब तिथियों की गणना ज्योतिष के अनुसार की गई और सब ठीक उतरीं। पंडित रामचंद्र शुक्ल इस ग्रंथ को एक भारी जाल मानते हैं और उनका अनुमान है कि यह जाल अयोध्या में रचा गया। पर अपने इस अनुमान के लिये वे कोई प्रमाण नहीं देते। इस चरित्र की रचना संवत् १६८७ में हुई और इसकी सबसे प्राचीन प्रति संवत् १८४८ की लिखी मौजा मरुव, पोस्ट आवरा जिला गया के पंडित रामाधारी पांडेय के पास है। उनसे इसकी नकल महात्मा बालकराम विनायक जी को प्राप्त हुई। उन्होंने इसकी प्रति उन्नाव के पंडित रामकिशोर शुक्ल को दी, जिन्होंने इसे पहले-पहल प्रकाशित किया।

इस ग्रंथ के अनुसार सरवार के रहनेवाले पराशर गोत्र के प्रतिष्ठित ब्राह्मणों के कुल में, जो कुछ काल के अनंतर राजापुर में बस गया था, तुलसीदास का जन्म संवत् १५५४ की श्रावणशुक्ला सप्तमी को हुआ। लड़का उत्पन्न होते ही रोया नहीं, उसके मुख से "राम" निकला और जन्म के समय उसके बत्तीसों दाँत थे। यह देखकर लोगों को आश्चर्य हुआ। तुलसीदास के पिता को बड़ा परिताप हुआ। बंधु-बांधवों से सलाह करके यह निश्चय किया गया कि यदि बालक तीन दिन तक जीता रहे तो सोचा जायगा कि क्या करना चाहिए। एकादशी को तुलसी की माता हुलसी की अवस्था बिगड़

गई। उसे ऐसा भास होने लगा कि अब मैं नहीं बचूँगी। उसने अपनी दासी को बुलाकर कहा कि अब मेरे प्राणपखेरू उड़ा चाहते हैं। तू इस बालक को और मेरे सब आभूषणों को लेकर रातोरात अपनी सास के पास चली जा, नहीं तो मेरे मरते ही लोग इस बालक को फेंक देंगे। दासी बालक को लेकर चल पड़ी और इधर उसी दिन ब्रह्म-मुहूर्त में हुलसी ने शरीर छोड़ा। चुनियाँ दासी ने ५ वर्ष और ५ मास तक बालक को पाला-पोसा, पर एक साँप के काटने से उसकी मृत्यु हो गई। तब लोगों ने तुलसीदास के पिता को सँदेसा भेजा। उन्होंने कहा कि हम ऐसे अभागे बालक को लेकर क्या करेंगे जो अपने पालक का नाश करता है। अस्तु, दैवी कृपा से बालक जीता रहा। इधर अनंतानंद के शिष्य नरहरियानंद को स्वप्न में आदेश हुआ कि तुम इस बालक की रक्षा करो और उसे रामचरित्र का उपदेश दो। नरहरियानंद ने जाकर उस बालक को गाँववालों की अनुमति से अपने साथ लिया और उसका यज्ञोपवीत संस्कार कर विद्यारंभ कराया। दस महीने तक अयोध्या में हनुमान टीले पर रहकर नरहरियानंद उसे पढ़ाते रहे। हेमंत ऋतु के लगने पर वे बालक को लेकर सरयू और घाघरा के संगम पर स्थित शूकरक्षेत्र में आए और वहाँ ५ वर्ष तक रहे। वहीं पर उन्होंने बालक को रामचरित्र का उपदेश दिया। वहाँ से घूमते-फिरते वे काशी पहुँचे और पंचगंगा घाट पर ठहरे। यहाँ शेषसनातन नामक एक विद्वान् रहते थे। उन्होंने नरहरियानंद से उस बालक को माँग लिया और उसे सब शास्त्रों का भली भाँति अध्ययन कराया। १५ वर्ष तुलसीदास यहाँ

रहे। गुरु की मृत्यु हो जाने पर उनकी इच्छा अपनी जन्मभूमि को देखने की हुई। वहाँ जाने पर उन्हें विदित हुआ कि उनका वंश नष्ट हो गया है। लोगों ने उनके रहने के लिये घर बनवा दिया और वे वहाँ रहकर राम-कथा कहने लगे। एक ब्राह्मण ने बड़े आग्रह से अपनी कन्या का विवाह उनसे कर दिया। इस स्त्री से उनका इतना अधिक प्रेम हो गया कि उसे वे पल भर भी नहीं छोड़ सकते थे। अचानक एक दिन उनकी स्त्री अपने भाई के साथ अपने मायके चली गई। तुलसीदास दौड़े हुए उसके पीछे गए। यहाँ पर स्त्री के उपदेश के कारण उन्हें वैराग्य हो गया और वे राम की खोज में निकल पड़े। अनेक तीर्थों की यात्रा करते करते वे काशी में आ बसे। यहाँ तथा अन्य स्थानों में उन्होंने अनेक ग्रंथों की रचना की, जो अब तक प्रसिद्ध चले आते हैं। अंत में संवत् १६८० की श्रावण-कृष्ण तीज शनिवार को उन्होंने काशी में शरीर छोड़ा।

इस सारांश से स्पष्ट विदित होगा कि उनकी जीवनी कैसी सुघटित रूप से लिखी गई है और यदि यह जाल है तो बड़ा महत्त्वपूर्ण जाल है कि १५५० से लेकर १६८० तक का पंचांग बनाकर मुख्य-मुख्य घटनाओं का तिथि, वार और संवत् ठीक ठीक दिया जा सका। कदाचित् ऐसे महत्त्वपूर्ण जाल का दूसरा उदाहरण कहीं खोजने पर भी न मिलेगा।

इस नवीन संस्करण के संबंध में एक विचित्र घटना हुई। ज्यों-ज्यों रामायण दुहराकर ठीक की जाती थी त्यों-त्यों संशोधित प्रति प्रेस में भेज दी जाती थी। जब संशोधन का कार्य समाप्त हुआ तब

पता चला कि अरण्य कांड से लेकर लंका के पूर्वार्ध तक की प्रति कहीं गायब हो गई। बहुत खोज की गई, पर कहीं पता न चला। यह भी ज्ञात न हुआ कि किसकी असावधानी या कृपा से ये पन्ने गायब हो गए। अंत में यह काम फिर से करना पड़ा। ऐसी ही एक घटना साहित्यालोचन के निर्माण के समय में भी हुई थी, जिसका उल्लेख यथा-स्थान होगा।

(२) सन् १८९९ में इंडियन प्रेस के स्वामी बाबू चिंतामणि घोष ने नागरी-प्रचारिणी सभा से प्रस्ताव किया कि सभा एक सचित्र मासिक पत्रिका के संपादन का भार ले और उसे वे प्रकाशित करें। सभा ने इस प्रस्ताव का अनुमोदन किया पर संपादन का भार लेने में अपनी असमर्थता प्रकट की। अंत में यह निश्चय हुआ कि सभा एक संपादकमंडल बना दे। सभा ने इसे स्वीकार किया और बाबू राधा-कृष्णदास, बाबू कार्तिकप्रसाद, बाबू जगन्नाथदास, पंडित किशोरीलाल गोस्वामी को तथा मुझे इस काम के लिये चुना। पहले वर्ष में इन पाँचों व्यक्तियों के संपादकत्व में यह पत्रिका निकली, पर वास्तव में इसका सारा बोझ मेरे ऊपर था। लेखों का संग्रह करना, उन्हें दुहराकर ठीक करना तथा आवश्यकता होने पर उनकी नकल करवाना और अंत में प्रूफ देखना यह सब मेरा काम था। इसके लिये प्रेस से किसी प्रकार की आर्थिक सहायता नहीं मिलती थी। इस अवस्था से अवगत होकर बाबू चिंतामणि ने यह निश्चय किया कि मैं ही इसका संपादक रहूँ। एक क्लर्क तथा डाक-व्यय आदि के लिए प्रेस २०) रुपया मासिक देता था और उसका हिसाब प्रतिमास प्रेस को भेज

दिया जाता था। इस प्रकार १९०१ और १९०२ में सरस्वती निकलती रही और एक प्रकार से चल भी निकली। अंत में मेरे प्रस्ताव पर यह निश्चय हुआ कि सरस्वती के संपादन का स्वतंत्र प्रबंध होना चाहिए। मेरे अलग होने का मुख्य कारण समय का अभाव तथा मेरी आर्थिक कृच्छ्रता थी। इसके संपादक पंडित महावीरप्रसाद चुने गए। इंडियन प्रेस की प्रशंसा करनी चाहिए कि उसने आरंभ से ही द्विवेदी जी को उनके कार्य के लिये मासिक वेतन दिया। जब उन्होंने इस काम को छोड़ा तब से प्रेस उन्हें पेंशन देने लगा और यावज्जीवन देता रहा। साथ ही यह बात भी है कि द्विवेदी जी ने बड़ी लगन के साथ संपादन-कार्य किया और सरस्वती की अच्छी उन्नति हुई। जब १९०३ के जनवरी मास से मैं इसके संपादनकार्य से अलग हुआ तब द्विवेदी जी ने मेरे संबंध में सरस्वती में यह नोट दिया। "जिन्होंने बाल्यकाल ही से अपनी मातृभाषा हिंदी में अनुराग प्रकट किया, जिनके उत्साह और अशांत श्रम से नागरी-प्रचारिणी सभा की इतनी उन्नति हुई, हिंदी की दशा को सुधारने के लिये जिनके उद्योग को देखकर सहस्रशः साधुवाद दिए बिना नहीं रहा जाता, जिन्होंने विगत दो वर्षों में इस पत्रिका के संपादन-कार्य को बड़ी योग्यता से निबाहा, उन विद्वान् बाबू श्यामसुंदरदास के चित्र को इस वर्ष के आदि में प्रकाशित करके सरस्वती अपनी कृतज्ञता प्रदर्शित करती है।"

चित्र के नीचे छपा था—

"मातृभाषा के प्रचारक, बिमल बी० ए० पास।
सौम्य शीलनिधान, बाबू श्यामसुंदरदास॥"

सरस्वती में विविध वार्ताओं के अतिरिक्त मेरे ये लेख छपे—

(१९००)

(१) जंतुओं की सृष्टि

(२) शमशुलउल्मा मौलवी सैयदअली बिलग्रामी

(३) पंडितवर रामकृष्ण गोपाल भंडारकर

(४) दानी जमशेद जी नौशेरवाँ जी ताता

(५) भारतवर्ष की शिल्प-विद्या

(६) फोटोग्राफी

(१९०१)

(१) वीसलदेवरासो

(२) भारतेश्वरी महारानी विक्टोरिया

(३) शिक्षा

(४) फतेहपुर सिकरी

(१९०२)

(१) रासो शब्द

(२) युनिवर्सिटी कमीशन

(३) स्वर्गवासी लाला व्रजमोहनलाल

(४) नागरी अक्षर और हिंदी भाषा

(१९०३)

दिल्ली-दरबार

(३) सन् १९०० के पहले ही नागरी-प्रचारिणी सभा ने मिस्टर रमेशचंद्र दत्त से उनके प्राचीन भारतवर्ष की सभ्यता के इतिहास का

हिंदी-अनुवाद करने की आज्ञा प्राप्त कर ली थी और उसके प्रकाशित करने का भार इंडियन प्रेस ने ले लिया था। पहले तो इस ग्रंथ के अनुवाद होने में ही बहुत विलंब हुआ। जब अनुवाद प्रस्तुत हो गया तब इंडियन प्रेस में वह पड़ा रहा। अंत में सभा ने इस अनुवाद की हस्तलिखित प्रति इंडियन प्रेस से लौटा ली और उसे स्वयं प्रकाशित करने का विचार किया। इस बीच में हिंदी-समाचार-पत्रों में इस ग्रंथ के विरुद्ध आंदोलन आरंभ हुआ कि सभा-द्वारा इस ग्रंथ का प्रकाशित होना सर्वथा अनुचित है। यह समय ऐसा था जब प्रत्येक कार्य में धार्मिक भावना घुस पड़ती थी और असहनशीलता तथा दूसरों के मत को जानने की अनिच्छा प्रबल थी। अस्तु, इस झगड़े को शांत करने के लिये मैंने सभा से प्रार्थना की कि अनुवाद मुझे दे दिया जाय, मैं उसे स्वयं छपवाऊँगा। सभा ने इस प्रार्थना को स्वीकार किया और कुछ मित्रों तथा परिचितों से २५)-२५) रु० लेकर इस पुस्तक के छापने का प्रबंध किया गया। इस प्रकार इसका प्रथम भाग सन् १९०४ के दिसंबर मास में प्रकाशित हुआ और क्रमशः इसके बाकी तीन भाग भी निकले। इसी द्रव्य से मैगास्थनीज की भारत-यात्रा का अनुवाद भी पंडित रामचंद्र शुक्ल से कराके प्रकाशित किया गया। इनकी बिक्री से आय होने पर जिन मित्रों ने रुपये दिए थे वे उन्हें लौटा दिए गए।

(४) सन् १९०१ की मनुष्यगणना के समय एक आंदोलन खड़ा हुआ जिसमें मैंने प्रमुख भाग लिया। इस गणना के सुपरिंटेंडेंट मिस्टर रिजले ने यह सर्क्यूलर निकाला कि खत्रियों की गणना वैश्यों

में की जाय। काशी में इसके विरुद्ध आंदोलन करने के लिये एक कमेटी बनी और रिजले साहब के कथन के विरुद्ध प्रमाण इकट्ठे किए जाने लगे। इस निमित्त बाबू जुगुलकिशोर, पंडित रामनारायण मिश्र और मैं तीनों कलकत्ते गए। डाक्टर श्रीकृष्ण वर्मन ने बड़े आदर और सद्भाव से हम लोगों को अपने यहाँ ठहराया। एशियाटिक सुसाइटी के पुस्तकालय की छान-बीन होने लगी और पंडित रामनारायण मिश्र सब सामग्री का संकलन तथा संपादन करने लगे। उसी सामग्री के आधार पर उन्होंने अँगरेजी में एक लेख भी प्रस्तुत किया जो छापकर वितरित किया गया। यह विचार था कि किसी प्रधान नगर में एक खत्री-कांफ्रेंस करके इस आंदोलन को ऐसा रूप दिया जाय जिसमें रिजले साहब को बाध्य हो हठधर्मी छोड़कर न्याय का पक्ष ग्रहण करना पड़े। बरेली के बैरिस्टर मि० नंदकिशोर कक्कड़ ने अपने नगर में इस कांफ्रेंस के करने का प्रबंध किया और जुलाई सन् १९०१ के आरंभ में यह कांफ्रेंस वहाँ हुई। जब हम लाग कलकत्ते में काम कर रहे थे तभी हम लोगों को इस कांफ्रेंस के लिये सभापति चुनने की चिंता ने ग्रसित किया था। हम लोग चाहते थे कि ऐसा व्यक्ति सभापति चुना जाय जो सबसे अधिक प्रभावशाली हो। हम लोगों का ध्यान बर्दवान के खत्री-राजवंश पर गया। यह खत्रीवंश अत्यंत संपन्न, प्रतिष्ठित और प्रभावशाली है। इस वंश के आदिपुरुष आबूराय हुए जो जाति के कपूर और लाहौर के रहनेवाले थे। सन् १६५७ में ये बंगाल में आकर रेकाबी बाजार (बर्दवान) के चौधरी और कोतवाल हुए। इनके लड़के बाबूराय बर्दवान परगने तथा अन्य

तीन स्थानों के मालिक हुए। इनके पीछे घनश्याम राय और उनके पीछे कृष्णराम राय हुए। कृष्णराम राय को औरंगजेब ने सन् १६९४ में एक फरमान भेजा और इन्हें बर्दवान आदि स्थानों का चौधरी और जमींदार माना। इनके पीछे जगत राय गद्दी पर बैठे और इन्हें भी सन् १६९७ में औरंगजेब ने एक फरमान भेजा। इस समय इनके अधीन पचास महाल थे। जगत राय के अनंतर कीर्तिचंद्र और चित्रसेन राय क्रमशः उत्तराधिकारी हुए। चित्रसेन राय को सन् १७४० में राजा की पदवी मिली। सन् १७४४ में राजा तिलकचंद बर्दवान की गद्दी पर बैठे। इन्हें दिल्ली से राजा बहादुर की पदवी और चारहज़ारी का मनसब मिला। आगे चलकर इन्हें महाराजाधिराज की पदवी और पंचहज़ारी का मनसब मिला। सन् १७७१ में महाराजाधिराज तेजचंद ६ वर्ष की आयु में गद्दी पर बैठे और सन् १८३२ तक राज्य करते रहे। इनके पीछे महाराजाधिराज महताबचंद गद्दी पर बैठे। सन् १८६४ में ये वाइसराय की कौंसिल के सदस्य नियत हुए। बंगाल के ये पहले रईस थे जो इस कौंसिल के सदस्य बने। सन् १८७७ में इन्हें १२ तोपों की सलामी दी गई। सन् १८७९ में महाराजाधिराज आफताबचंद महताब गद्दी पर बैठे, पर निस्संतान होने के कारण उन्होंने राजा बनबिहारी कपूर के ज्येष्ठ पुत्र को गोद लिया जो महाराजाधिराज विजयचंद महताब बहादुर के नाम से प्रसिद्ध हुए। सन् १९०० में ये नाबालिग थे और राजा बनबिहारी कपूर राज्य का सब प्रबंध करते थे। हम लोगों ने सोचा कि इन्हें सभापति बनाने का उद्योग करना चाहिए। अतएव

हम लोग इनसे मिलने बर्दवान गए। सब तथ्य निवेदन किया गया और सभापति होने के लिये प्रार्थना की गई। उन्होंने उस समय तो कोई उत्तर नहीं दिया, पर सोचकर अपना निश्चय बताने का वचन दिया। कुछ दिनों बाद हम लोग फिर इनसे मिलने गए। वे आगा-पीछा कर रहे थे। महाराज आफताबचंद के समय से खत्रियों में इस राजवंश को लेकर अनेक झगड़े उठ खड़े हुए थे। कोई इन्हें जातिच्युत रखना चाहते थे और कोई इनका साथ देते थे। जहाँ तक मुझे पता चला है, यह ज्ञात होता है कि कुछ लोगों को यहाँ से पुष्कल धन मिलता था। जिनको नहीं मिलता था वे द्वेषाग्नि से जलकर उनका विरोध करते थे। जिस समय हम लोग इनसे मिलने गए उस समय भी इस वंश को लेकर खत्रियों में मतभेद था और कभी-कभी तो यह मतभेद लट्ठबाजी तथा मुकदमेबाजी तक में परिणत हो जाता था। काशी में इस विवाद को लेकर बहुत टंटा खड़ा हुआ था। खूब लट्ठबाजी हुई थी और मुकदमे भी चले थे। निदान इन सब बातों को सोचकर राजा बनबिहारी कपूर इस सोच-विचार में पड़े कि यह काशीवासी त्रिमूर्ति हमें कांफ्रेंस में ले जाकर अप्रतिष्ठित न करें और इस प्रकार कुछ विरोधियों का बदला चुकावें। मैंने राजा साहब को आश्वासन दिया कि आप किसी बात की आशंका न करें। इस समय खत्री-जाति की सहायता करने से आपका यश बढ़ेगा और संभव है कि बहुत कुछ मनमुटाव दूर हो जाय। अंत में राजा साहब ने अपनी स्वीकृति दे दी और हम लोग प्रसन्नचित्त लौट गए। कलकत्ते में कार्य समाप्त

कर हम लोग काशी आए और बरेली-कांफ्रेंस की तैयारी होने लगी। यथासमय इसका अधिवेशन हुआ। राजा साहब ने अपना भाषण अँगरेजी में लिखा था। मुझे इसका अनुवाद करने के लिये कहा गया। उस समय कुछ ऐसा उत्साह, साहस और अभ्यास बढ़ा हुआ था कि मैं चट खड़ा हो गया और मन में अँगरेजी पढ़ता और हिंदी में उसका अनुवाद कहता जाता था। इस पर मुंशी गंगाप्रसाद वर्मा को बड़ा आश्चर्य हुआ और उन्होंने मेरी प्रशंसा करके मुझे उत्साहित किया। अस्तु, कांफ्रेंस सफलतापूर्वक हो गई और उसमें निश्चित प्रस्तावों के अनुसार राजा साहब से प्रार्थना की गई कि वे एक आवेदन-पत्र तैयार करके रिजले साहब को दें। यथासमय यह पत्र तैयार हुआ। इसमें अकाट्य प्रमाणों से यह सिद्ध किया गया कि खत्री वैदिक काल के क्षत्रियों की संतान हैं। यथासमय रिजले साहब ने इसे स्वीकार किया और खत्रियों की गिनती क्षत्रियों में हुई। यह कांफ्रेंस बड़ी सफलतापूर्वक हुई। कहीं कोई आपत्ति न खड़ी हुई और जाति से किसी के छेकने का प्रश्न भी न उठा। साथ ही बर्दवान-राज्यवंश, जो वर्षों से जातिच्युत होने के झगड़े में पड़ा रहा, इस कांफ्रेंस के कारण मान्य खत्रियों में गिना जाने लगा। इस पर राजा साहब बड़े संतुष्ट और प्रसन्न हुए। उनके एक विश्वासपात्र प्राइवेट सेक्रेटरी थे। वे एक भीमकाय बंगाली महाशय थे! उन्होंने एक दिन मुझसे कहा कि राजा साहब तुमसे बड़े प्रसन्न हैं। वे तुम्हें तीस हजार रुपया देना चाहते हैं। मैंने उत्तर दिया कि यह उनकी कृपा है, पर उन्हें स्मरण रखना चाहिए कि इस प्रकार के रुपये देने से जाति

में बर्दवान-वंश के विरुद्ध आंदोलन रहा; अब वह शांत हो गया है अब उसको फिर न उभाड़ना चाहिए। यदि राजा साहब रुपया देना ही चाहते हैं तो वे कोई ऐसा काम करें जो खत्रियों के लिये हितकारी हो। अंत में सेंट्रल खत्री एजुकेशन कमेटी की स्थापना काशी में हुई और उसके सहायतार्थ बर्दवान-राज्य से १००) मासिक मिलने लगा। यह रकम आगे चलकर १२५) या १५०) हो गई और अनेक वर्षों तक निरंतर मिलती रही। कई वर्ष हुए जब कुप्रबंध के कारण बर्दवान-राज्य कोर्ट आफ वार्ड्स के सुपुर्द हुआ तब यह सहायता बंद हो गई। इसका मुझे बहुत दुःख हुआ पर मैं कर ही क्या सकता था। खत्री एजुकेशन कमेटी ने कितने ही छात्रों को सहायता दी और अब तक वह यह कार्य करती जाती है। कई को उसने विलायत जाकर पढ़ने में सहायता दी। मुझे एक घटना का स्मरण है। प्रताप-गढ़ के एक खत्री-युवक को एडिनबरा में डाक्टरी पढ़ने के लिये भेजा गया। वे यथा-समय परीक्षा में उत्तीर्ण होकर घर लौटे। मैं उस समय लखनऊ में था। उन्होंने मुझे कहला भेजा कि मैं आगया हूँ, आप मुझसे मिलने आइए। उनकी धृष्टता और साहस पर मुझे बड़ा दुःख हुआ। जिसकी कृपा से वे विलायत से डाक्टर होकर आए उसी को अपने यहाँ मिलने के लिये बुलाना उनकी धृष्टता थी! खत्री जाति प्रायः अकृतज्ञ पाई गई है। विरले रत्नों को छोड़कर उसमें अधिकांश लोग ऐसे मिलेंगे जो स्वार्थपरायण और कृतघ्न हैं। खत्री एजुकेशन कमेटी ने सैकड़ों क्या हजारों विद्यार्थियों की आर्थिक सहायता की पर इने-गिने लोगों ने ही जीविकोपार्जन के व्यवसाय

में लग जाने पर उसकी आर्थिक सहायता की। इससे बढ़कर उनकी अकृतज्ञता और स्वार्थपरता का क्या प्रमाण हो सकता है। मुझे संतोष है कि प्रत्यक्ष रीति से नहीं, पर परोक्ष रीति से मैं इस विद्यादान के शुभ काम में सहायक हुआ। महाराज बर्दवान से समय-समय पर उद्योग करके मैंने नागरी-प्रचारिणी सभा के लिये २,०००) की सहायता प्राप्त की।

(५) इधर सभा का काम बढ़ जाने से उसके लिये अपने निज के भवन की चिंता उसके कार्यकर्ताओं को बहुत हुई। बहुत छान-बीन के अनंतर मैदागिन के कंपनीबाग का पूर्वी कोना हम लोगों ने चुना। यहाँ उस समय पानी तथा मैले के नल बनते समय जो मिट्टी निकली थी उसका ढेर लगा हुआ था। बाबू गोविंददास तथा मिस्टर ग्रीव्ज के उद्योग तथा काशी के कलेक्टर ई० एच० रडीचे साहब की कृपा से यह जमीन ३,५००) रु० में सभा को मिली और नवंबर सन् १९०२ में इसके बयनामे की रजिस्टरी हुई। भवन बनवाने के लिये धन इकट्ठा करने का उद्योग आरंभ हुआ। धन के लिये पहला डेपुटेशन बाबू राधाकृष्णदास, पं० माधवराव सप्रे, पं० रामराव चिंचोलकर, बाबू माधोप्रसाद तथा पं० विश्वनाथ शर्मा का बाहर गया। बाबू राधाकृष्णदास तो अयोध्या होकर काशी लौट आए और शेष लोगों ने अनेक स्थानों की यात्रा करके भवन के लिये अच्छा चंदा इकट्ठा किया। मैंने भी इस काम के लिये कई बेर मिर्जापुर की यात्रा की तथा कलकत्ता, लाहौर और बंबई तक एक-दो मित्रों के साथ धावा लगाया और धन बटोरा।

सन् १९०२ में भारतजीवन पत्र में काशिनरेश महाराज सर प्रभुनारायणसिंह के चरित्र पर कुछ आक्षेप छपे। उस पर बड़ा आंदोलन मचा। टाउनहाल में एक बड़ी सभा में इस आक्षेप का विरोध किया गया। मैंने इस सभा में भाग लिया और शांति स्थापित करने का उद्योग किया। मेरा उद्योग सफल हुआ और बाबू रामकृष्ण वर्मा ने अपनी टिप्पणी पर खेद प्रकट करते हुए क्षमा माँगी। इसके दो-एक दिन पीछे बाबू इंद्रनारायणसिंह ने मुझे बुलवा भेजा और कहा कि काशिराज को नेटिव स्टेट्स के अधिकार देने की बात चल रही है। इधर भारतजीवन पत्र ने अपने लेख से उसमें व्याघात पहुँचाया है, पर वह मामला खतम हो गया; अब कोई ऐसा आयोजन करना चाहिए जिसमें गवर्मेंट को यह दिखाया जा सके कि काशी के निवासियों में महाराज के प्रति श्रद्धा और भक्ति है। मैंने कहा कि मेरे हाथ में कुछ है नहीं। सभा-भवन के लिये भूमि ले ली गई है। यदि महाराज उसकी नींव रखना चाहें तो मैं उसका प्रबंध कर सकता हूँ। उन्होंने कहा कि महाराज को पत्र लिखो, मैं स्वीकार करा लूँगा और सभा को अच्छी सहायता दिलवाऊँगा। अस्तु, सब प्रबंध किया गया और २१ दिसंबर १९०२ को बड़ी धूम-धाम के साथ महाराज ने नींव रखी। उन्होंने अपने भाषण में कहा कि मैं सभा की पूरी सहायता करूँगा। उस समय काशी में यह बात प्रसिद्ध हो गई थी कि महाराज सभा का भवन अने पास से बनवा दे रहे हैं। पर महाराज से कुछ काल के अनंतर दो बेर करके २,०००) की सहायता प्राप्त हुई। जब सभा-भवन बन गया और उसको २८ फर्वरी, सन्

१९०४ को इस प्रदेश के लेफ्टनेंट गवर्नर सर जेम्स लाटूश ने खोला तब सब हिसाब लगाने पर यह प्रकट हुआ कि सभा को इस मद में ६,०००) का देना है। इस निमित्त मैं कई बेर बाबू इंद्रनारायणसिंह के यहाँ गया और मैंने उनसे कहा कि अपनी प्रतिज्ञा के अनुसार सभा को सहायता दिलवाइए क्योंकि इस पर ६,०००) का ऋण चढ़ गया है। उन्होंने कहा कि मैं अमुक दिन जाऊँगा और सब प्रबंध कर दूँगा। कभी तो वे कहते कि आज महाराज के सिर में दर्द था, इसलिये मैं कुछ न कह सका; कभी कहते कि महाराज चकिया चले गए हैं, लौटने पर मैं मिलूँगा। कभी कहते कि आज महाराज के पास बहुत-से आदमी बैठे थे इसलिये मैं कुछ न कह सका। सारांश यह कि उन्होंने मुझे महीनों दौड़ाया, पर एक पैसा भी सहायता में न मिला। मैं नहीं कह सकता कि इस कार्य में कहाँ तक उन्होंने बहाने करके मुझे टाला, अथवा उनको सफलता ही न मिली। अस्तु, यह ऋण पड़ा रहा। पीछे से बाबू गौरीशंकरप्रसाद के मंत्रित्व में उन्हीं के उद्योग से यह चुका। इस ऋण चुकाने का पूर्ण श्रेय बाबू गौरीशंकरप्रसाद को है।

(६) सन् १८९९ से लेकर १९०९ तक मेरे नीचे लिखे निबंध और पुस्तकें प्रकाशित हुई। पिछले प्रकरणों में भाषासारसंग्रह, हिंदी वैज्ञानिक कोश, दत्त के इतिहास और रामायण का उल्लेख हो चुका है। उनको छोड़कर शेष ग्रंथों का ब्योरा नीचे दिया जाता है।

इसी समय हिंदी-कोविद-रत्नमाला के प्रथम भाग का प्रकाशन हुआ। इस पुस्तक का नामकरण पंडित श्रीधर पाठक का किया हुआ

है। इसमें हिंदी के चालीस लेखकों और सहायकों के सचित्र जीवन-चरित दिए हुए हैं। मेरी बहुत इच्छा थी कि इसमें पंडित महावीर-प्रसाद द्विवेदी का चित्र और चरित्र भी रहे पर यह इच्छा इस समय पूरी न हो सकी। इस समय तो द्विवेदी जी मुझसे रुष्ट थे और युद्ध-पथ पर आरूढ़ थे।

संपादित पुस्तकें

चंद्रावती अथवा नासिकेतोपाख्यान--सदल मिश्रलिखित जब कलकत्ते में मैं एशियाटिक सुसाइटी की हस्तलिखित पुस्तकों की नोटिस कर रहा था तब मुझे इस पुस्तक की प्रति वहाँ मिली थी। वहाँ से मैंने इसे मँगनी मँगाया। यह मेरे पास रक्खी हुई थी कि एक दिन पंडित केदारनाथ पाठक पंडित रामचंद्र शुक्ल को मेरे पास मिलाने लाए। उन्होंने कहा कि शुक्ल जी से कुछ काम लीजिए। उस समय शुक्ल जी मिर्जापुर के लंडनमिशन स्कूल में ड्राइंगमास्टर थे। मैंने उन्हें चंद्रावती की हस्तलिखित प्रति देकर कहा कि इसकी शुद्रतापूर्वक साफ-साफ नकल कर लाइए। कुछ दिनों के उपरांत वे उसकी नकल कर लाए। असल प्रति में बीच का एक पन्ना गायब था। इसको उन्होंने वैसे ही छोड़ दिया था। मैंने इसकी पूर्ति संस्कृत ग्रंथ से की और यह अंश छपी प्रति में कोष्ठकों में दिया गया है। इस ग्रंथ के संबंध से पहले-पहल मेरा परिचय पंडित रामचंद्र शुक्ल से हुआ।

छत्रप्रकाश—पहला संस्करण मैंने संपादित किया। दूसरा संस्करण बाबू कृष्णबलदेव वर्मा के सहयोग में निकला।

पृथ्वीराजरासो—पहले इसका संपादन पंडित मोहनलाल विष्णुलाल पंड्या, बाबू राधाकृष्णदास तथा मेरे सहयोग में आरंभ हुआ। फिर इन दोनों महाशयों के स्वर्गवासी हो जाने पर मैं अकेले ही इसका संपादन करता रहा। मेरी सहायता के लिये कुँअर कन्हैया जू नियत किए गए। इन्होंने इस ग्रंथ का सार हिंदीगद्य में लिखा था। इसकी भूमिका अब तक न लिखी जा सकी पर सन् १९११ की नागरी-प्रचारिणी पत्रिका में चंदबरदाई पर मेरा लेख छपा है जो एक प्रकार से भूमिका का काम दे सकता है।

वनिताविनोद—राजा साहब भिनगा की इच्छा तथा सहायता से यह संग्रह प्रस्तुत किया गया था। इसका संपादन मैंने किया था और इसके लिये एक लेख लिखा था।

इंद्रावती भाग १—इसका दूसरा भाग अभी छपने ही को पड़ा है।

हम्मीररासो—इसकी प्रति मुझे पंडित सूर्यनारायण दीक्षित से प्राप्त हुई थी।

शकुंतला नाटक—राजा लक्ष्मणसिंह-लिखित अनुवाद का संपादन इस संस्करण में किया गया। यह पहले संस्करण के आधार पर किया गया है। इसे इंडियन प्रेस ने प्रकाशित किया और इलाहाबाद विश्वविद्यालय की इंट्रेंस परीक्षा में यह कई वर्ष तक पाठ्य पुस्तक के रूप में चलता रहा।

पाठ्य पुस्तकें !

भाषा-पत्र-लेखन

प्राचीन लेख-मणि-माला

हिंदी-पत्र-लेखन
हिंदी प्राइमर
हिंदी की पहली पुस्तक

} इन तीनों पुस्तकों पर पंडित महावीरप्रसाद द्विवेदी की विशेष कृपा हुई। इनके छिद्रान्वेषण किए और इनके प्रचलित होने में बाधाएँ डालीं।

हिंदी-ग्रामर

हिंदीसंग्रह

बालक-विनोद—यह डाक्टर एनीबेसेंट की लिखी एक पुस्तक का अनुवाद है जिसे हिंदू कालेज कमेटी ने प्रकाशित किया था।

इनमें दूसरी पुस्तक नागरी-प्रचारिणी पत्रिका में छपी। शेष इंडियन प्रेस और मेडिकल हाल प्रेस ने प्रकाशित कीं।

(८)

आपत्तियों का पहाड़

अब कुछ मेरी कथा भी सुनिए। मैं पहले लिख चुका हूँ कि १८९९ के मार्च मास में मेरी नियुक्ति सेंट्रल हिंदू स्कूल में हुई। पहले मैं साधारण अध्यापक था, फिर सेकेंड मास्टर हुआ और आगे चलकर असिस्टेंट हेड मास्टर बनाया गया। प्रबंध का सब काम मेरे अधीन था। इसमें मुझे कठिनाइयाँ झेलनी पड़ती

थीं। स्कूल-कमेटी में प्रधानता साहवंश और वसुवंश की थी। स्कूल में उस समय एक मुकर्जी महाशय थे। ये वसुवंश में प्राइवेट ट्यूटर थे। वहाँ जाकर वे विशेषकर उन अध्यापकों की निंदा किया करते थे जो बंगाली नहीं थे। स्कूल के बंगाली अध्यापकों में एक दल धीरे-धीरे उन लोगों का बना जो बंगालियों का पक्ष समर्थन और अबंगालियों का विरोध करता था। इसके केंद्र उस समय पं० कालीप्रसन्न चक्रवर्ती थे। ये गणित के अध्यापक थे, पर अत्यंत सीधे थे। प्रारंभ में बाबू हरिदास मुकर्जी नामक एक भीमकाय और डरावनी आकृति के अध्यापक इनके साथ क्लास में बैठते थे, जिसमें लड़के उत्पात न मचा सकें। जिस समय और बंगाली अध्यापक "मास्टर महाशय" कहकर इनके पास दौड़ते और कान में कुछ फुसफुसाते उस समय मुझे बड़ी चिढ़ होती, पर मैं कुछ कर सकने में असमर्थ था। अंत में मैंने एक उपाय निकाला। गर्मियों की छुट्टी में स्कूल का टाइमटेबुल बनाना मेरा काम था। एक वर्ष मैंने घोर परिश्रम कर ऐसा टाइमटेबुल बनाया जिसमें यथासंभव किसी दलविशेष के दो अध्यापकों को एक साथ किसी घंटे में छुट्टी न मिले। इससे स्कूल में षड्यंत्र की रचना बंद हो गई। काली बाबू की प्रकृति में अब बड़ा परिवर्तन हो गया है। वे शुद्ध साधु स्वभाव के सज्जन हैं। उन्हें न किसी से कुछ लेना, न कुछ देना है, अपने काम से ही प्रयोजन है। यदि किसी बात में उनका मतभेद या विरोध भी होता है, तो वे उसे मन में दबा लेते हैं, खुलकर कुछ नहीं कहते। अवसर पड़ने पर धीरे से अपना मत प्रकट कर देते हैं।

सन् १९०० में मैं एक महीने की छुट्टी लेकर हिंदी पुस्तकों की खोज में बाबू राधाकृष्णदास के साथ मथुरा और जयपुर गया। इस यात्रा से मैं सितंबर के आरंभ में लौटा। उसके कुछ दिनों पीछे मेरे पिता को पक्षाघात हो गया। इस रोग का यह तीसरा आक्रमण था। बहुत चेष्टा की गई पर कोई फल न हुआ। २१ सितंबर को उनका देहांत हो गया। अब मुझ पर आपत्तियों का पर्वत टूट पड़ा। घर में माता, स्त्री, पाँच भाई, दो भौजाइयाँ और दो मेरे पुत्र थे। मुझे लेकर इन १२ प्राणियों के भरण-पोषण का भार मेरे ऊपर पड़ा। मेरी आय उस समय ४०), ४५) महीना थी। इससे क्या हो सकता था? इतनी ही कुशल थी कि मेरे पिता का $\frac{1}{6}$ हिस्सा तेजाब के कारखाने (कृष्ण कंपनी) में था जिससे हम लोगों को ५०) महीना मिलने लगा। इससे किसी प्रकार गृहस्थी का काम चलने लगा। मैंने घर पर कुछ विद्यार्थियों के पढ़ाने का आयोजन भी किया जिससे ३०), ४०) मासिक मिल जाता था। यह क्रम कुछ दिनों तक चला। फिर छोटा भाई भी कुछ सहायता करने लगा। पिता की मृत्यु को अभी एक वर्ष भी न हुआ था कि मेरे एक संबंधी ने मेरी माँ से उस ऋण के विषय में कुछ कटूक्ति की, जिसे मेरे पिता ने उनके पिता से लिया था। माता मेरे सामने आकर रो पड़ीं। मुझे बड़ा दुःख हुआ, पर जिसका कुछ देना है वह यदि कुछ कटु वाक्य कह बैठे तो उसको सह लेने के अतिरिक्त और उपाय ही क्या था। उस समय मेरी आयु २५ वर्ष की थी। शरीर में शक्ति और उत्साह भरा हुआ था, साथ ही मैं

अपमान नहीं सह सकता था। जोश में आकर मैंने माता के सामने प्रतिज्ञा कर दी कि जब तक मैं यह ऋण न चुका लूँगा तब तक पिता का वार्षिक श्राद्ध न करूँगा। प्रतिज्ञा तो कर ली पर अब यह सोच हुआ कि तीन-चार हजार रुपया कहाँ से आवेगा जिससे यह ऋण चुके। बहुत आगा-पीछा करने के अनंतर मैं अपने एक उदार मित्र के पास बाहर गया। उनसे मैंने सब व्यवस्था ठीक-ठीक कह दी और पाँच हजार का ऋण माँगा। उन्होंने उसी समय हजार-हजार रुपये के पाँच नोट निकालकर मेरे सामने रख दिए। मैंने एक रसीद लिख दी। यह ऋण मैंने धीरे-धीरे चुका दिया, पर उन्होंने एक पैसा भी ब्याज न लिया। साथ ही अपना नाम प्रकट न करने की मुझसे प्रतिज्ञा करा ली। मैंने काशी लौटकर उस ऋण को चुकाया और तब पिता का वार्षिक श्राद्ध किया।

मेरे चाचा और पिता की रोटी आरंभ में एक ही में थी। पर मेरे पितामह लाला नानकचंद की मृत्यु के पीछे दोनों का चूल्हा अलग-अलग हो गया। पिता की मृत्यु के उपरांत चाचा ने एक मकान खरीदा और वे यथा-समय उसमें चले गए। चलते समय उन्होंने हम लोगों में से किसी से बात भी न की, ले जाकर अपने साथ रखना तो दूर रहा। वे क्यों अपने बड़े भाई की संतति का बोझ अपने ऊपर उठाने लगे थे, यद्यपि ईश्वर ने उन्हें यह शक्ति दी थी कि वे ऐसा सहज में कर सकते थे। ऐसा सुनने में आया कि उन्हें अपने गुजराती गुरु की स्त्री से पचास हजार रुपये मिले थे। यह कहाँ तक सत्य है, मैं नहीं कह सकता। अस्तु, जिस दिन

पिता पर पक्षाघात का आक्रमण होनेवाला था उसकी पहली रात को उन्होंने मेरी माता से कहा था कि तुम किसी बात की चिंता मत करो। तुम्हारा बड़ा लड़का सबका पालन-पोषण करेगा। मैं उसके नाम अपना तेजाबखाने का हिस्सा लिख दूँगा। पर वे अपनी इच्छा पूरी न कर सके। यदि वे यह कर जाते तो मुझे वे सब आपत्तियाँ न झेलनी पड़तीं जो आगे चलकर झेलनी पड़ीं।

इस समय की आर्थिक कठिनाइयों को दूर करने के लिये मुझे भाँति-भाँति के उद्योग करने पड़े। सन् १९०२ में मुझे पंडित श्रीधर पाठक ने, जो उस समय इरीगेशन कमिशन के दफ्तर के सुपरिंटेंडेंट थे, १४०) मासिक पर उस दफ्तर में रिपोर्ट छपवाने का काम करने के लिये बुलाया। मैंने हिंदू कालेज से १ वर्ष की छुट्टी ली और शिमले गया, पर वहाँ मैं दो-तीन महीने ही रह सका। पहली बात तो यह थी कि पाठक जी का रहन-सहन और खान-पान मेरी प्रकृति और रुचि के अनुकूल न था। दूसरे मेरे तालू में एक फोड़ा हो गया था जिससे मुझे बड़ा भय हुआ। डाक्टर को दिखाने पर उन्होंने उसे छेद दिया, पर वह फिर भर गया। ऐसा कई बेर हुआ और मैं घबड़ा गया। अंत में मैं वहाँ की नौकरी छोड़कर काशी लौट आया और कई महीनों तक इधर-उधर टक्कर मारता फिरा। जीवन-निर्वाह का कोई उपाय नहीं लगा। इस अवस्था में मुझे सरस्वती का संपादन स्वतः छोड़ना पड़ा। किसी तरह रो-पीटकर काम चलता रहा। हिंदू कालेज में मेरे पुनः आने का मिस्टर बैनबरी ने बड़ा विरोध किया पर अंत में बाबू गोविंददास की कृपा से मैं वहाँ बुला लिया गया।

कुछ दिनों के अनंतर मिस्टर अरंडेल हेड मास्टर हुए। उनके समय में अच्छी तरह काम चलता रहा, पर वे हिंदू कालेज के वाइस-प्रिंसपल नियत हुए और उनके स्थान पर एक अन्य सज्जन हेड मास्टर बने। यद्यपि मैं कई वर्षों तक असिस्टेंट हेड मास्टर रह चुका था, पर मैं इस पद के योग्य न समझा गया। मेरी समझ में इसके दो मुख्य कारण थे—एक तो यह था कि इस संस्था में अधिकारी-पद पर थिआसिफिस्ट की नियुक्ति ही हो सकती थी। सभी सांप्रदायिक संस्थाओं में ऐसा होता है। दूसरी बात यह थी कि इस संस्था का यह मुख्य उद्देश्य था कि इसके कार्यकर्ता या तो आनरेरी हों या बहुत कम वेतन पर काम करने को उद्यत हों। अधिक-से-अधिक वेतन १००) था। थिआसफी की ओर मेरी प्रवृत्ति न थी और आनरेरी अथवा कम वेतन पर काम करना मेरे लिये असंभव था। जो कोई भी कारण हो, मेरी नियुक्ति नहीं हुई। नई व्यवस्था का पहला आक्रमण मुझ पर हुआ। कदाचित् यह समझा गया कि इसका स्कूल में बड़ा प्रभाव है। अतएव इसे सबसे पहले ही दबाना चाहिए; तब स्कूल का प्रबन्ध ठीक चल सकेगा। यह बात सच है कि मैं उस समय स्कूल का कर्ता-धर्ता, विधाता सब कुछ था। आरंभ में ही मेरे नियत कार्य के अतिरिक्त एक दूसरे अध्यापक का, जो उस दिन अनुपस्थित था, अधिक कार्य मुझको दिया गया। मैंने पहले यह कभी नहीं किया था। मुझे बहुत बुरा लगा, पर काम करके घर चला आया। इस कारवाई से मैं बहुत व्यथित हुआ और मैंने अपना मत दृढ़ किया कि मुझे अब त्याग-पत्र दे देना चाहिए, इसी में कल्याण

है। संयोग से उसी दिन संध्या-समय कारमाइकल लाइब्रेरी के पास कोठी से बगीचे जाते हुए बाबू गोविंददास मिल गए। मैंने उनसे सब बातें कह दीं और त्याग-पत्र देने की अनुमति माँगी। उन्होंने मुझे कोमल शब्दों में फटकारा और कहा 'ठहरो, देखा जायगा।' अस्तु, उनके उद्योग और मिस्टर आरेंडल के सहयोग से मैं स्कूल से कालेज में अँगरेजी का जूनियर प्रोफेसर बनाकर भेज दिया गया। वहाँ कोई २, २½ वर्ष तक मैंने कार्य किया। जिस दिन मैं पहले-पहल कालेज में पढ़ाने के लिये गया उस दिन मेरे विद्यार्थियों ने बड़े उल्लास के साथ मेरा स्वागत किया। यह सब होते हुए भी मेरी आर्थिक अवस्था शोचनीय थी। अनेक बार उद्योग करने पर मेरा वेतन १००) हो गया था, पर छोटे भाइयों की पढ़ाई तथा उनके विविध संस्कारों के करने में जो व्यय उठाना पड़ता था वह बहुत बड़ा था। इस समय मैंने तीन भाइयों की चोटी, जनेऊ तथा एक का विवाह किया और अपने बड़े लड़के की चोटी उतरवाई तथा जनेऊ किया। यह सब तो आफतें थीं ही, इधर सन् १९०८ में मेरी स्नेहमयी माता का देहांत हो गया। उसके उपरांत तीसरे भाई रामकृष्ण और मेरे तीसरे लड़के सोहनलाल को टायफाइड बुखार हो गया। रामकृष्ण का तो उस रोग से सन् १९०९ में देहांत हो गया। सोहनलाल ४० दिन बीमार रहकर अच्छा हुआ। पर अभी आपत्तियों का अंत नहीं हुआ। इसी वर्ष मेरी एक भौजाई तथा उनके दो बच्चों का देहांत हुआ। मैं घबड़ा गया। शहर और घर मुझे काटने लगे। इस समय मेरे मित्र पंडित दुर्गाप्रसाद मिश्र ने,

जो उन दिनों काशी ही में थे, मुझे बहुत ढाढ़स दिया। उन्होंने कहा कि तुम घबड़ाओ नहीं, मैं काश्मीर में तुम्हारी नौकरी का बंदोबस्त करता हूँ। वे जम्मू गए और उद्योग में लगे। अंत में सितंबर सन् १९०९ में उन्होंने मुझे तार देकर जम्मू बुलाया। मैं नौकरी और घरबार छोड़कर वहाँ चला गया। पर वहाँ नौकरी मिलने में बड़ी कठिनाई हुई। किसी तरह उद्योग करके महाराज के स्टेट आफिस में एक स्थान मिला। पंडित दुर्गाप्रसाद बड़े शाह-खर्च थे। उनके खर्च से मैं तंग आगया। इधर बनारस से चिट्ठियाँ आने लगीं कि मेरी गृहस्थी दुखी है। उनको ठीक ठीक भोजन मिलना भी दुलभ हो गया था। दो सबसे छोटे भाइयों की भी बड़ी दुर्गति थी। वे बहुत मार खाते थे। कभी-कभी ये लोग चने भुनवाकर पेट भरते थे। इससे तंग आकर मैं अप्रैल में काशी आया और अपनी स्त्री, तीनों लड़कों तथा दो छोटे भाइयों को साथ लेकर काश्मीर चला गया। इस घटना का मुझ पर इतना प्रभाव पड़ा कि मुझे एक तिनका भर चीज भी घर से लेने की रुचि न हुई। कहाँ तक कहूँ, मुरादाबाद स्टेशन पर पानी पीने के लिये गिलास खरीदा और रावलपिंडी में खाना पकाने के बर्त्तन मोल लिए। इस प्रकार गृहस्थी का नया आयोजन हुआ। श्रीनगर पहुँचने पर फिर कुछ सुख से रहने लगा पर वहाँ का वातावरण मेरे अनुकूल न था। वहाँ दल-बंदी और षड्यंत्रों का प्राबल्य था। किस दल में रहे, किसमें न रहे इस प्रश्न का हल करना कठिन था। यहाँ एक महाशय से भेंट हुई जिन्होंने मेरा १०००), जो मेरे भाई ने कुछ काश्मीरी माल

खरीदने के लिये भेजा था, ठग लिया। निदान किसी प्रकार दो वर्ष यहाँ बिताए। लड़कों को लाहौर के दयानंद एँग्लो वैदिक स्कूल में भरती कर दिया। उस समय बोर्डिंग हाउस के सुपरिंटेंडेंट मेरे पुराने शिष्य जानकीप्रसाद सामंत थे। लड़कों को उन्हीं के सुपुर्द किया। पर मेरे हितैषियों ने यहाँ भी मुझे चैन न लेने दिया। सबसे छोटे भाई को बहकाकर काशी बुलाने का वे उद्योग करते रहे। चुपचाप उसके पास रुपए भी भेजते रहे। इन्हीं की कृपा से सबसे छोटे भाई का जीवन नष्ट हो गया। वह उच्छृंखल हो गया। न काशी में उसका मन लगता था न मेरे साथ। उसका पढ़ना-लिखना छूट गया और बुरे लोगों के साथ में उसे आनंद आने लगा। निदान १९१२ के अक्टूबर मास में मैं काशी आया और यहाँ से त्यागपत्र भेज दिया। इसके उपरांत मैं कई महीने तक बीमार रहा। गुदास्थान में फोड़ा हो गया था। मेरे मित्र डाक्टर अमरनाथ बैनर्जी ने उसे चीरने की सम्मति की और उस काम के लिये मुझे क्लोरोफार्म सुँघाने का प्रबंध किया गया पर मैं बेहोश न हुआ। अंत में खैरातीलाल हकीम की दवाई से मैं अच्छा हुआ। यह काल बड़ी विपत्ति में कटा। अंत में जुलाई सन् १९१३ में मैं बाबू गंगाप्रसाद वर्म्मा के निमंत्रण पर लखनऊ के कालीचरण हाई स्कूल का हेड मास्टर होकर वहाँ गया।

काश्मीर जाने के पहले मेरे प्रस्ताव पर काशी-नागरी-प्रचारिणी सभा ने हिंदी-साहित्य-सम्मेलन का प्रथम अधिवेशन करने का निश्चय किया। इस अधिवेशन में मैं जम्मू से काशी आया था। सम्मेलन

के एक दिन पूर्व मेरी छोटी भौजाई का प्रसव में देहांत हो गया। पर मैं सम्मेलन में सम्मिलित हुआ और उसके कार्यों में भाग लेता रहा। सम्मेलन में मैंने देखा कि एक विरोधी दल प्रत्येक बात में मेरा विरोध तथा उपेक्षा करने पर उद्यत था। मैं काश्मीर में रहता था। वहाँ से इस काम की देख-रेख करने और विरोध का सामना करने में असमर्थ था। अतएव मैंने प्रसन्नतापूर्वक सम्मेलन को प्रयाग जाने का समर्थन किया। यह अच्छा ही हुआ।

(९)

हिंदी-शब्दसागर

किसी जाति के जीवन में उसके द्वारा प्रयुक्त शब्दों का अत्यन्त महत्त्वपूर्ण स्थान है! आवश्यकता तथा स्थिति के अनुसार इन प्रयुक्त शब्दों में आगम अथवा लोप, तथा वाच्य, लक्ष्य एवं द्योत्य भावों में परिवर्तन, होता रहता है। अत: और सामग्री के अभाव में भी इन शब्दों के द्वारा किसी जाति के जीवन की भिन्न-भिन्न स्थितियों का इतिहास उपस्थित किया जा सकता है। इसी आधार पर आर्य-जाति का प्राचीनतम इतिहास प्रस्तुत किया गया है और ज्यों-ज्यों सामग्री उपलब्ध होती जा रही है, त्यों-त्यों यह इतिहास ठीक किया जा रहा है। इस अवस्था में यह बात स्पष्ट समझ में आ सकती है कि जातीय जीवन में शब्दों का स्थान कितने महत्त्व का है। जातीय साहित्य को रचित करने तथा उसके भविष्य को सुरुचिर और समुज्ज्वल बनाने के अतिरिक्त वह किसी भाषा की संपन्नता या शब्द-

बहुलता का सूचक और उस भाषा के साहित्य का अध्ययन करने-वालों का सबसे बड़ा सहायक भी होता है। विशेषत: अन्य भाषा-भाषियों और विदेशियों के लिये तो उसका और भी अधिक उपयोग होता है। इन सब दृष्टियों से शब्द-कोश किसी भाषा के साहित्य की मूल्यवान् संपत्ति और उस भाषा के भांडार का सबसे बड़ा निदर्शक होता है।

जब अँगरेजों का भारतवर्ष के साथ घनिष्ठ संबंध स्थापित होने लगा तब नवागंतुक अँगरेजों को इस देश की भाषाएँ जानने की विशेष आवश्यकता पड़ने लगी। फलत: वे अपने सुभीते के लिये देशभाषाओं के कोश बनाने लगे। इस प्रकार इस देश में आधुनिक ढंग के और अकारादि क्रम से बननेवाले शब्द-कोशों की रचना का सूत्रपात हुआ। कदाचित् देश-भाषाओं में सबसे पहले हिंदी (जिसे उस समय अँगरेज लोग हिंदुस्तानी कहा करते थे) के दो शब्द-कोश श्रीयुत जे० फर्गुसन नामक एक सज्जन ने प्रस्तुत किए थे, जो रोमन अक्षरों में सन् १७७३ में लंदन में छपे थे। इनमें से एक हिंदुस्तानी-अँगरेजी का और दूसरा अँगरेजी-हिंदुस्तानी का था। इसी प्रकार का एक कोश सन् १७९० में मदरास में छपा था, जो श्रीयुत हेनरी हेरिस के प्रयत्न का फल था। सन् १८०८ में जोसफ टेलर और विलियम हंटर के सम्मिलित उद्योग से कलकत्ते में एक हिंदुस्तानी-अँगरेजी कोश प्रकाशित हुआ था। इसके उपरांत १८१० में एडिन-बरा में श्रीयुत जे० बी० गिलक्राइस्ट का और सन् १८१७ में लंदन में श्रीयुत जे० शेक्सपियर का एक अँगरेजी-हिंदुस्तानी और एक

हिंदुस्तानी-अँगरेजी कोश निकला था, जिसके पीछे से तीन संस्करण हुए थे। इनमें से अंतिम संस्करण बहुत कुछ परिवर्द्धित था। परंतु ये सभी कोश रोमन अक्षरों में थे और इनका व्यवहार अँगरेज या अँगरेजी पढ़े-लिखे लोग ही कर सकते थे। हिंदी-भाषा या देव-नागरी अक्षरों में जो सबसे पहला कोश प्रकाशित हुआ था, वह पादरी एम० टी० एडम ने तैयार किया था। इसका नाम "हिंदीकोश" था और यह सन् १८२९ में कलकत्ते से प्रकाशित हुआ था। तब से ऐसे शब्द-कोश निरंतर बनने लगे, जिनमें या तो हिंदीशब्दों के अर्थ अँगरेजी में और या अँगरेजी शब्दों के अर्थ हिंदी में होते थे। इन कोशकारों में श्रीयुत एम० डब्ल्यू० फैलन का नाम विशेषरूप से उल्लेख करने योग्य है; क्योंकि इन्होंने साधारण बोलचाल के छोटे-बड़े कई कोश बनाने के अतिरिक्त, कानून और व्यापार आदि के पारिभाषिक शब्दों के भी कुछ कोश बनाये थे। परंतु इनका जो हिंदुस्तानी-अँगरेजी कोश था उसमें यद्यपि अधिकांश शब्द हिंदी के ही थे, फिर भी अरबी, फारसी के शब्दों की कमी न थी; और कदाचित् अदालती लिपि फारसी होने के कारण ही उसमें शब्द फारसी-लिपि में, अर्थ अँगरेजी में और उदाहरण रोमन में दिए गए थे। सन् १८८४ में लंदन में श्रीयुत जे० टी० प्लाट्स का जो कोश छपा था, वह भी बहुत अच्छा था और उसमें भी हिंदी तथा उर्दू-शब्दों के अर्थ अँगरेजी भाषा में दिए गए थे। सन् १८७३ में मु० राधेलाल जी का शब्द-कोश गया से प्रकाशित हुआ था जिसके लिये उन्हें सरकार से यथेष्ट पुरस्कार भी मिला था। श्रीयुत

पादरी जे० डी० बेट ने पहले सन १८७५ में काशी से एक हिंदी-कोश प्रकाशित किया था, जिसमें हिंदी के शब्दों के अर्थ अँगरेजी में दिए गए थे। इसी समय के लगभग काशी से कलकत्ता स्कूल बुक सोसायटी का हिंदी-कोश प्रकाशित हुआ था जिसमें हिंदी के शब्दों के अर्थ हिंदी में ही थे। बेट के कोश के पीछे से दो और संशोधित तथा परिवर्द्धित संस्करण प्रकाशित हुए थे। सन् १८७५ में पेरिस में एक कोश का कुछ अंश प्रकाशित हुआ था, जिसमें हिंदी या हिंदुस्तानी शब्दों के अर्थ फ्रांसीसी भाषा में दिए गए थे। सन् १८८० में लखनऊ से सैयद जामिनअली जलाल का गुलशने-फ़ैज नामक एक कोश प्रकाशित हुआ था, जो था तो फारसी-लिपि में ही; परंतु शब्द उसमें अधिकांश हिंदी के थे। सन् १८८७ में तीन महत्त्व के कोश प्रकाशित हुए थे, जिनमें सबसे अधिक महत्त्व का कोश मिरजा शाहजादा कैसर-बख्त का बनाया हुआ था। इसका नाम "कैसर-कोश" था और यह इलाहाबाद से प्रकाशित हुआ था। दूसरा कोश श्रीयुत मधुसूदन पंडित का बनाया हुआ था जिसका नाम "मधुसूदननिघंटु" था और जो लाहौर से प्रकाशित हुआ था। तीसरा कोश श्रीयुत मुन्नीलाल का था जो दानापुर में छपा था और जिसमें अँगरेजी शब्दों के अर्थ हिंदी में दिए गए थे। सन् १८८१ और १८९५ के बीच में पादरी टी० क्रेंपन के बनाए हुए कई कोश प्रकाशित हुए थे जो प्रायः स्कूलों के विद्यार्थियों के काम के थे। १८९२ में बाँकीपुर से श्रीयुत बाबा बैजूदास का "विवेककोश" निकला था। इसके उपरांत गौरीनागरी-कोश, हिंदीकोश, मंगल-

कोश, श्रीधरकोश आदि छोटे-छोटे और भी कई कोश निकले थे जिनमें हिंदीशब्दों के अर्थ हिंदी में ही दिए गए थे। इनके अतिरिक्त कहावतों और मुहावरों आदि के जो कोश निकले थे, वे अलग हैं।

इस बीसवीं शताब्दी के आरंभ से ही मानो हिंदी के भाग्य ने पलटा खाया और हिंदी का प्रचार धीरे-धीरे बढ़ने लगा। उसमें निकलनेवाले सामयिक पत्रों तथा पुस्तकों की संख्या भी बढ़ने लगी और पढ़नेवालों की संख्या में भी उत्तरोत्तर वृद्धि होने लगी। तात्पर्य यह कि दिन पर दिन लोग हिंदी-साहित्य की ओर प्रवृत्त होने लगे और हिंदी-पुस्तकें चाव से पढ़ने लगे। लोगों में प्राचीन काव्यों आदि को पढ़ने की उत्कंठा भी बढ़ने लगी। उस समय हिंदी के हितैषियों को हिंदी-भाषा का एक ऐसा बृहत् कोश तैयार करने की आवश्यकता जान पड़ने लगी जिसमें हिंदी के पुराने पद्य और नये गद्य दोनों में व्यवहृत होनेवाले समस्त शब्दों का समावेश हो; क्योंकि ऐसे कोश के बिना आगे चलकर हिंदी के प्रचार में कुछ बाधा पहुँचने की आशंका थी।

काशी-नागरी-प्रचारिणी सभा ने जितने बड़े-बड़े और उपयोगी काम किए हैं, जिस प्रकार प्रायः उन सबका सूत्रपात या विचार सभा के जन्म के समय, उसके प्रथम वर्ष में हुआ था, उसी प्रकार हिंदी का बृहत् कोश बनाने का सूत्रपात नहीं तो कम-से-कम विचार भी उसी प्रथम वर्ष में हुआ था। हिंदी में सर्वांगपूर्ण और बृहत् कोश का अभाव सभा के संचालकों को १८९३ ई० में ही खटका था और उन्होंने एक उत्तम कोश बनाने के विचार से आर्थिक

सहायता के लिये दरभंगा-नरेश महाराज सर लक्ष्मीश्वरसिंह जी से प्रार्थना की थी। महाराज ने भी शिशु-सभा के उद्देश्य की सराहना करते हुए उसकी सहायता के लिये १२५) रुपये भेजे थे और उसके साथ सहानुभूति प्रकट की थी। इसके अतिरिक्त आपने कोश का कार्य्य आरंभ करने के लिये भी सभा से कहा था और यह भी आशा दिलाई थी कि आवश्यकता पड़ने पर वे सभा को और भी आर्थिक सहायता देंगे। इस प्रकार सभा ने नौ सज्जनों की एक उपसमिति इस संबंध में विचार करने के लिये नियुक्त की; पर उप-समिति ने निश्चय किया कि इस कार्य्य के लिये बड़े-बड़े विद्वानों की सहायता की आवश्यकता होगी और इसके लिये कम से कम दो वर्ष तक २५०) मासिक का व्यय होगा। सभा ने इस संबंध में फिर श्रीमान् दरभंगा-नरेश को लिखा था, परंतु अनेक कारणों से उस समय कोश का कार्य्य आरंभ नहीं हो सका। अतः सभा ने निश्चय किया कि जब तक कोश के लिये यथेष्ट धन एकत्र न हो तथा दूसरे आवश्यक प्रबंध न हो जायँ, तब तक उसके लिये आवश्यक सामग्री ही एकत्र की जाय। तदनुसार उसने सामग्री एकत्र करने का कार्य्य आरंभ कर दिया।

सन् १९०४ में सभा को पता लगा कि कलकत्ते की हिंदी-साहित्य-सभा ने हिंदी-भाषा का एक बहुत बड़ा कोश बनाना निश्चित किया है और उसने इस संबंध में कुछ कार्य्य भी आरंभ कर दिया है। सभा का उद्देश्य केवल यही था कि हिंदी में एक बहुत बड़ा शब्द-कोश तैयार हो जाय; स्वयं उसका श्रेय प्राप्त करने का उसका कोई विचार

नहीं था। अतः सभा ने जब देखा कि कलकत्ते की साहित्य-सभा कोश बनवाने का प्रयत्न कर ही रही है, तब उसने बहुत ही प्रसन्नता-पूर्वक निश्चय किया कि अपनी सारी संचित सामग्री साहित्य-सभा को दे दी जाय और यथासाध्य सब प्रकार से उसकी सहायता की जाय। प्रायः तीन वर्ष तक सभा इसी आसरे में थी कि साहित्य-सभा कोश तैयार करे। परंतु कोश तैयार करने का जो यश स्वयं प्राप्त करने की उसकी कोई विशेष इच्छा न थी, विधाता वह यश उसी को देना चाहता था। जब सभा ने देखा कि साहित्य-सभा की ओर से कोश की तैयारी का कोई प्रबंध नहीं हो रहा है, तब उसने इस काम को स्वयं अपने ही हाथ में लेना निश्चित किया। जब सभा के संचालकों ने आपस में इस विषय की सब बातें पक्की कर लीं, तब २३ अगस्त, १९०७ को सभा के परम हितैषी और उत्साही सदस्य श्रीयुत रेवरेंड ई० ग्रीव्स ने सभा की प्रबंधकारिणी समिति में यह प्रस्ताव उपस्थित किया कि हिंदी के एक बृहत् और सर्वांगपूर्ण कोश बनाने का भार सभा अपने ऊपर ले और साथ ही यह भी बतलाया कि यह कार्य्य किस प्रणाली से किया जाय। सभा ने मि० ग्रीव्स के प्रस्ताव पर विचार करके इस विषय में उचित परामर्श देने के लिये अग्रलिखित सज्जनों की एक उपसमिति नियत कर दी—रेवरेंड ई० ग्रीव्स, महामहोपाध्याय पंडित सुधाकर द्विवेदी, पंडित रामनारायण मिश्र बी० ए०, बाबू गोविंददास, बाबू इंद्रनारायणसिंह एम० ए०, लाला छोटेलाल, मुंशी संकटाप्रसाद, पंडित माधवप्रसाद पाठक और मैं।

इस उपसमिति के कई अधिवेशन हुए जिनमें सब बातों पर पूरा-पूरा विचार किया गया। अंत में ९ नवंबर १९०७ को इस उपसमिति ने अपनी रिपोर्ट दी जिसमें सभा को परामर्श दिया गया कि सभा हिंदी भाषा के दो बड़े कोश बनवाये जिनमें से एक में तो हिंदीशब्दों के अर्थ हिंदी में ही रहें और दूसरे में हिंदीशब्दों के अर्थ अँगरेजी में हों। आज-कल हिंदी भाषा में गद्य तथा पद्य में जितने शब्द प्रचलित हैं, उन सबका इन कोशों में समावेश हो, उनकी व्युत्पत्ति दी जाय और उनके भिन्न-भिन्न अर्थ यथासाध्य उदाहरणों-सहित दिए जायँ। उपसमिति ने हिंदी भाषा के गद्य तथा पद्य के प्रायः दो सौ अच्छे-अच्छे ग्रंथों की एक सूची भी तैयार कर दी थी और कहा था कि इनमें से सब शब्दों का अर्थ सहित संग्रह कर लिया जाय; कोश की तैयारी का प्रबंध करने के लिये एक स्थायी समिति बना दी जाय और कोश के संपादन तथा उसकी छपाई आदि का सब प्रबंध करने के लिये एक संपादक नियुक्त कर दिया जाय।

समिति ने यह भी निश्चित किया कि कोश के संबंध में आवश्यक प्रबंध करने के लिये महामहोपाध्याय पंडित सुधाकर द्विवेदी, लाला छोटेलाल, रेवरेंड ई० ग्रीव्स, बाबू इंद्रनारायणसिंह एम० ए०, बाबू गोविंददास, पंडित माधवप्रसाद पाठक और पंडित रामनारायण मिश्र बी० ए० की प्रबंध-कर्त्तृ-समिति बना दी जाय और उसके मंत्रित्व का भार मुझे दिया जाय। समिति का प्रस्ताव था कि उस प्रबंध-कर्त्तृ-समिति को अधिकार दिया जाय कि वह आवश्यकतानुसार अन्य सज्जनों को भी अपने में सम्मिलित कर ले। इस कोश के

संबंध में प्रबंध-कर्त्तृ-समिति को सम्मति और सहायता देने के लिये एक और बड़ी समिति बनाई जाने की सम्मति भी दी गई, जिसमें हिंदी के समस्त बड़े-बड़े विद्वान् और प्रेमी सम्मिलित हों। उस समय यह अनुमान किया गया था कि इस काम में लगभग ३०,०००) का व्यय होगा जिसके लिये सभा को सरकार तथा राजा-महाराजाओं से प्रार्थना करने का परामर्श दिया गया।

सभा की प्रबंधकारिणी समिति ने उपसमिति की ये बातें मान लीं और तदनुसार कार्य्य भी आरंभ कर दिया। शब्द-संग्रह के लिये उपसमिति ने जो पुस्तकें बतलाई थीं, उनमें से शब्द-संग्रह का कार्य्य भी आरंभ हो गया और धन के लिये अपील भी हुई जिससे पहले ही वर्ष २,३३२) के वचन मिले, जिनमें से १,९०२) नगद भी सभा को प्राप्त हो गए। इसमें से सबसे पहले १,०००) स्वर्गीय माननीय सर सुंदरलाल सी० आई० ई० ने भेजे थे। सत्य तो यह है कि यदि प्रार्थना करते ही उक्त महानुभाव तुरंत १,०००) न भेज देते तो सभा का कभी इतना उत्साह न बढ़ता और बहुत संभव था कि कोश का काम और कुछ समय के लिये टल जाता। परंतु सर सुंदरलाल से १,०००) पाते ही सभा का उत्साह बहुत अधिक बढ़ गया और उसने और भी तत्परता से कार्य्य करना आरंभ किया। उसी समय श्रीमान् महाराज ग्वालियर ने भी १,०००) देने का वचन दिया। इसके अतिरिक्त और भी अनेक छोटी-मोटी रकमों के वचन मिले। तात्पर्य यह कि सभा को पूर्ण विश्वास हो गया कि अब कोश तैयार हो जायगा।

इस कोश के सहायतार्थ सभा को समय-समय पर निम्नलिखित गवर्नमेंटों, महाराजों तथा अन्य सज्जनों से सहायता प्राप्त हुई—संयुक्त प्रदेश की गवर्नमेंट, भारत-गवर्नमेंट, मध्य-प्रदेश की गवर्नमेंट तथा नेपाल, रीवाँ, छत्रपुर, बीकानेर, वर्द्दवान, अलवर, ग्वालियर, काश्मीर, काशी, भावनगर, इंदौर आदि के महाराजों, सर सुंदरलाल, राजा साहब भिनगा, कुँअर राजेन्द्रसिंह और सर जार्ज ग्रियर्सन आदि से अच्छी सहायता मिली। लगभग २६-२७ हजार के सहायता प्राप्त हुई।

शब्द-संग्रह करने के लिये जो पुस्तकें चुनी गई थीं, उन पुस्तकों को सभासदों में बाँटकर उनसे शब्द-संग्रह कराने का सभा का विचार था। बहुत-से उत्साही सभासदों ने पुस्तकें तो मँगवा लीं; पर कार्य्य कुछ भी न किया। बहुतों ने तो महीनों पुस्तकें अपने पास रखकर अंत में ज्यों की त्यों लौटा दीं और कुछ लोगों ने पुस्तकें भी हजम कर लीं। थोड़े-से लोगों ने शब्द-संग्रह का काम किया था, पर उनमें भी संतोषजनक काम इने-गिने सज्जनों का ही था। इसमें व्यर्थ बहुत-सा समय नष्ट हो गया; पर धन की यथेष्ट सहायता सभा को मिलती जाती थी, अतः दूसरे वर्ष सभा ने विवश होकर निश्चित किया कि शब्द-संग्रह का काम वेतन देकर कुछ लोगों से कराया जाय। तदनुसार प्रायः १६-१७ आदमी शब्द-संग्रह के काम के लिये नियुक्त कर दिए गए और एक निश्चित प्रणाली पर शब्द-संग्रह का काम होने लगा।

आरंभ में कोश के सहायक संपादक पंडित बालकृष्ण भट्ट, पंडित

रामचंद्र शुक्ल, लाला भगवानदीन और बाबू अमीरसिंह के अतिरिक्त बाबू जगन्मोहन वर्मा, बाबू रामचंद्र वर्मा, पंडित वासुदेव मिश्र, पंडित वचनेश मिश्र, पंडित ब्रजभूषण ओझा, श्रीयुत वेणी कवि आदि अनेक सज्जन भी इस शब्द-संग्रह के काम में सम्मिलित थे। शब्द-संग्रह के लिये सभा केवल पुस्तकों पर ही निर्भर नहीं रही। कोश में पुस्तकों के शब्दों के अतिरिक्त और भी अनेक ऐसे शब्दों की आवश्यकता थी जो नित्य की बोलचाल के, पारिभाषिक अथवा ऐसे विषयों के थे जिन पर हिंदी में पुस्तकें नहीं थीं। अतः सभा ने मुंशी रामलगनलाल नामक एक सज्जन को शहर में घूम-घूमकर अहीरों, कहारों, लोहारों, सोनारों, चमारों, तमोलियों, तेलियों, जोलाहों, भालू और बंदर नचानेवाले मदारियों, कूचेबंदों, धुनियों, गाड़ीवानों, कुश्तीबाजों, कसेरों, राजगीरों, छापेखानेवालों, महाजनों, बजाजों, दलालों, जुआरियों, महावतों, पंसारियों, साईसों आदि के पारिभाषिक शब्द तथा गहनों, कपड़ों, अनाजों, पेड़ों, बरतनों, देवताओं, गृहस्थी की चीजों, पकवानों, मिठाइयों, विवाह आदि की रस्मों, तरकारियों, सागों, फलों, घासों, खेलों और उनके साधनों, आदि-आदि के नाम एकत्र करने के लिये नियुक्त किया। पुस्तकों के शब्द-संग्रह के साथ-साथ यह काम भी प्रायः दो वर्ष तक चलता रहा। इस संबंध में यह कह देना आवश्यक जान पड़ता है कि मुंशी राम-लगनलाल का इस संबंध का शब्द-संग्रह बहुत संतोष-जनक था। इसके अतिरिक्त सभा ने बाबू रामचंद्र वर्म्मा को समस्त भारत के पशुओं, पक्षियों, मछलियों, फूलों और पेड़ों आदि के नाम एकत्र

करने के लिये कलकत्ते भेजा था जिन्होंने प्रायः ढाई मास तक वहाँ रहकर इंपीरियल लाइब्रेरी से फ्लोग और फॉना आफ ब्रिटिश इंडिया सिरीज की समस्त पुस्तकों में से नाम और विवरण आदि एकत्र किए थे। हिंदी भाषा में व्यवहृत होनेवाले अँगरेजी, फारसी, अरबी तथा तुर्की आदि भाषाओं के शब्दों, पौराणिक तथा ऐतिहासिक व्यक्तियों की जीवनियों, प्राचीन स्थानों तथा कहावतों आदि के संग्रह का भी बहुत अच्छा प्रबंध किया गया था। पुरानी हिंदी तथा डिंगल और बुंदेलखंडी आदि भाषाओं के शब्दों का भी अच्छा संग्रह किया गया था। इसमें सभा का मुख्य उद्देश्य यह था कि जहाँ तक हो सके, कोश में हिंदी-भाषा में व्यवहृत होने या हो सकनेवाले अधिक-से-अधिक शब्द आ जायँ और यथासाध्य कोई आवश्यक बात या शब्द छूटने न पावे। इसी विचार से सभा ने अँगरेजी, फारसी, अरबी और तुर्की आदि शब्दों, पौराणिक तथा ऐतिहासिक व्यक्तियों और स्थानों के नामों आदि की एक बड़ी सूची भी प्रकाशित कराके घटाने-बढ़ाने के लिये हिंदी के बड़े-बड़े विद्वानों के पास भेजी थी।

दो ही वर्ष में सभा को अनेक बड़े-बड़े राजा-महाराजाओं तथा प्रांतीय और भारतीय सरकारों से कोश के सहायतार्थ बड़ी-बड़ी रकमें भी मिलीं, जिससे सभा तथा हिंदी-प्रेमियों को कोश के तैयार होने में किसी प्रकार का संदेह नहीं रह गया और सभा बड़े उत्साह से कोश का काम कराने लगी। आरंभ में सभा ने यह निश्चित नहीं किया था कि कोश का संपादक कौन बनाया जाय, पर दूसरे वर्ष

सभा ने मुझे कोश का प्रधान संपादक बनाना निश्चित किया। मैंने भी सभा की आज्ञा शिरोधार्य्य करके यह भार अपने ऊपर ले लिया।

सन् १९१० के आरंभ में शब्द-संग्रह का कार्य्य समाप्त हो गया। जिन स्लिपों पर शब्द लिखे गए थे, उनकी संख्या अनुमानतः १० लाख थी, जिनमें से आशा की गई थी कि प्रायः १ लाख शब्द निकलेंगे; और यही बात अंत में हुई भी। जब शब्द-संग्रह का काम हो चुका, तब स्लिपें अक्षर-क्रम से लगाई जाने लगीं। पहले वे स्वरों और व्यंजनों के विचार से अलग-अलग की गईं और तब स्वरों के प्रत्येक अक्षर तथा व्यंजनों के प्रत्येक वर्ग की स्लिपें अलग-अलग की गईं। जब स्वरों की स्लिपें अक्षर-क्रम से लग गईं, तब व्यंजनों के वर्गों के अक्षर अलग-अलग किए गए और प्रत्येक अक्षर की स्लिपें क्रम से लगाई गईं। यह कार्य्य प्रायः एक वर्ष तक चलता रहा।

जिस समय कोश के संपादन का भार मुझे दिया गया था, उसी समय सभा ने यह निश्चित कर दिया था कि पंडित बालकृष्ण भट्ट, पंडित रामचंद्र शुक्ल, लाला भगवानदीन तथा बाबू अमीरसिंह कोश के सहायक संपादक बनाए जायँ, और ये लोग कोश के संपादन में मेरी सहायता करें। अक्टूबर १९०९ में मेरी नियुक्ति काश्मीरराज्य में हो गई जिसके कारण मुझे काशी छोड़कर काश्मीर जाना आवश्यक हुआ। उस समय मैंने सभा से प्रार्थना की कि इतनी दूर से कोश का संपादन सुचारु रूप से न हो सकेगा। अतः

सभा मेरे स्थान पर किसी और सज्जन को कोश का संपादक नियुक्त करे। परंतु सभा ने यही निश्चय किया कि कोश का कार्य्यालय भी मेरे साथ आगे चलकर काश्मीर भेज दिया जाय और वहीं कोश का संपादन हो। उस समय तक स्लिपें अक्षर-क्रम से लग चुकी थीं और संपादन का कार्य्य अच्छी तरह आरंभ हो सकता था। अतः १५ मार्च १९१० को काशी में कोश का कार्य्यालय बंद कर दिया गया और निश्चय हुआ कि चारों सहायक संपादक जंबू पहुँचकर १ अप्रैल १९१० से वहीं कोश के संपादन का कार्य्य आरंभ करें। तदनुसार पंडित रामचंद्र शुक्ल और बाबू अमीरसिंह तो यथा-समय जंबू पहुँच गए, पर पंडित बालकृष्ण भट्ट तथा लाला भगवान-दीन ने एक-एक मास का समय माँगा। दुर्भाग्यवश बाबू अमीर-सिंह के जंबू पहुँचने के चार-पाँच दिन बाद ही काशी में उनकी स्त्री का देहांत हो गया जिससे उन्हें थोड़े दिनों के लिये फिर काशी लौट आना पड़ा। उस बीच में अकेले पंडित रामचंद्र शुक्ल ही संपादन-कार्य्य करते रहे। मई के आरंभ में पंडित बालकृष्ण भट्ट और बाबू अमीरसिंह जंबू पहुँचे और संपादन-कार्य्य करने लगे। पर लाला भगवानदीन कई बार प्रतिज्ञा करके भी जंबू न पहुँच सके; अतः सहायक संपादक के पद से उनका संबंध टूट गया। शेष तीनों सहायक संपादक उत्तमतापूर्वक संपादन-कार्य्य करते रहे। कोश के विषय में सम्मति लेने के लिये आरंभ में जो कोश-कमेटी बनी थी, वह १ मई १९१० को अनावश्यक समझकर तोड़ दी गई।

कोश का संपादन आरंभ हो चुका था और शीघ्र ही उसकी

छपाई का प्रबंध करना आवश्यक था; अतः सभा ने कई बड़े-बड़े प्रेसों से कोश की छपाई के नमूने मँगाए। अंत में प्रयाग के सुप्रसिद्ध इंडियन प्रेस को कोश की छपाई का भार दिया गया। इस कार्य्य का आरंभिक प्रबंध करने के लिये उक्त प्रेस को २,०००) पेशगी के दिए गए और लिखा-पढ़ी करके छपाई के संबंध की सब बातें तय कर ली गईं।

अप्रैल १९१० से सितंबर १९१० तक तो जंबू में कोश के संपादन का कार्य्य बहुत उत्तमतापूर्वक और निर्विघ्न होता रहा; पर पीछे इसमें विघ्न पड़ा। पंडित बालकृष्ण भट्ट जंबू में दुर्घटनावश सीढ़ी पर से गिर पड़े और उनकी एक टाँग टूट गई, जिसके कारण अक्टूबर १९१० में उन्हें छुट्टी लेकर प्रयाग चला आना पड़ा। नवंबर में बाबू अमीरसिंह भी बीमार हो जाने के कारण छुट्टी लेकर काशी चले आए और दो मास तक यहीं बीमार पड़े रहे। संपादन-कार्य्य करने के लिये जंबू में फिर अकेले पंडित रामचंद्र शुक्ल बच रहे। जब अनेक प्रयत्न करने पर भी जंबू में सहायक संपादकों की संख्या पूरी न हो सकी, तब विवश होकर १५ दिसंबर १९१० को कोश का कार्यालय जंबू से काशी भेज दिया गया। कोश-विभाग के काशी आ जाने पर जनवरी १९११ से बाबू अमीरसिंह भी स्वस्थ होकर उसमें सम्मिलित हो गए और बाबू जगन्मोहन वर्मा भी सहायक संपादक के पद पर नियुक्त कर दिए गए। दूसरे मास फरवरी में बाबू गंगाप्रसाद गुप्त भी कोश के सहायक संपादक बनाए गए। जंबू में तो पहले सब सहायक संपादक अलग-अलग शब्दों का

संपादन करते थे और तब सब लोग एक साथ मिलकर संपादित शब्दों को दोहराते थे। परंतु बाबू गंगाप्रसाद गुप्त के आ जाने पर दो-दो सहायक संपादक अलग-अलग मिलकर संपादन करने लगे। नवंबर १९११ में जब बाबू गंगाप्रसाद गुप्त ने अपने पद से इस्तीफा दे दिया, तब पंडित बालकृष्ण भट्ट पुनः प्रयाग से बुला लिए गए और जनवरी १९१२ में लाला भगवानदीन भी पुनः इस विभाग में सम्मिलित कर लिए गए तथा मार्च १९१२ से सब सहायक संपादक संपादन के कार्य्य के लिये तीन भागों में विभक्त कर दिए गए। इस प्रकार कार्य की गति पहले की अपेक्षा बढ़ तो गई, पर फिर भी उसमें उतनी वृद्धि नहीं हुई जितनी वांछित थी। जब मई सन् १९१० में 'अ', 'आ', 'इ' और 'ई' का संपादन हो चुका, तब उसकी कापी प्रेस में भेज दी गई और उसकी छपाई में हाथ लगा दिया गया। उस समय तक मैं भी काश्मीर से लौटकर काशी आगया था जिससे कार्य-निरीक्षण और व्यवस्था का अधिक सुभीता हो गया।

१९१३ में संपादन-शैली में कुछ और परिवर्तन किया गया। पंडित बालकृष्ण भट्ट, बाबू जगन्मोहन वर्म्मा, लाला भगवानदीन तथा बाबू अमीरसिंह अलग-अलग संपादन-कार्य्य पर नियुक्त कर दिए गए। सब संपादकों की लेख-शैली आदि एक ही प्रकार की नहीं हो सकती थी, अतः सबकी संपादित स्लिपों को दोहरा कर एक-रस करने के कार्य्य पर पंडित रामचंद्र शुक्ल नियुक्त किए गए और उनकी सहायता के लिये बाबू रामचंद्र वर्म्मा रक्खे गए। उस

समय यह व्यवस्था थी कि दिन भर तो सब सहायक संपादक अलग-अलग संपादन-कार्य्य किया करते थे और पंडित रामचद्र शुक्ल पहले की संपादित की हुई स्लिपों को दोहराया करते थे; और संध्या को ४ बजे से ५ बजे तक सब संपादक मिल कर एक साथ बैठते और पंडित रामचंद्र शुक्ल की दोहराई हुई स्लिपों को सुनते तथा आवश्यकता पड़ने पर उसमें परिवर्तन आदि करते थे। इस प्रकार कार्य्य भी अधिक होता था और प्रत्येक शब्द के संबंध में प्रत्येक सहायक संपादक की सम्मति भी मिल जाती थी।

मई १९१२ में छपाई का कार्य्य आरंभ हुआ था और एक ही वर्ष के अंदर ९६-९६ पृष्ठों की चार संख्यायें छपकर प्रकाशित हो गई, जिनमें ८,६६६ शब्द थे। सर्वसाधारण में इन प्रकाशित संख्याओं का बहुत आदर हुआ। सर जार्ज ग्रियर्सन, डाक्टर रुडाल्फ हार्नली, प्रोफेसर सिलवान लेवी, रेवरेंड ई० ग्रीव्स, पंडित मोहनलाल विष्णुलाल पंड्या, महामहोपाध्याय डाक्टर गंगानाथ झा, पंडित महावीरप्रसाद द्विवेदी, मिस्टर रमेशचंद्र दत्त, पंडित श्याम-बिहारी मिश्र आदि अनेक बड़े-बड़े विद्वानों, पंडितों तथा हिंदी-प्रेमियों ने प्रकाशित अंकों की बहुत प्रशंसा की और अँगरेजी दैनिक लीडर तथा हिंदी साप्ताहिक हिंदी बंगवासी आदि समाचार-पत्रों ने भी समय-समय पर उन अंकों की प्रशंसात्मक आलोचना की। ग्राहक-संख्या भी दिन पर दिन संतोषजनक रूप में बढ़ने लगी।

इस अवसर पर एक बात और कह देना आवश्यक जान पड़ता

है। जिस समय मैं पहले काश्मीर जाने लगा था, उस समय यही निश्चय हुआ था कि कोश-विभाग काशी में ही रहे और मेरी अनुपस्थिति में स्वर्गवासी पंडित केशवदेव शास्त्री कोश-विभाग का निरीक्षण करें। परंतु मेरी अनुपस्थिति में पंडित केशवदेव शास्त्री तथा कोश के सहायक संपादकों में कुछ अनबन हो गई, जिसने आगे चलकर और भी विलक्षण रूप धारण किया। उस समय संपादक लोग प्रबंधकारिणी समिति के अनेक सदस्यों तथा कर्मचारियों से बहुत रुष्ट और असंतुष्ट हो गए थे। कई मास तक यह झगड़ा भीषण रूप से चलता रहा और अनेक समाचार-पत्रों में उसके संबंध में कड़ी टिप्पणियाँ निकलती रहीं। सभा के कुछ सदस्य तथा बाहरी सज्जन कोश की व्यवस्था तथा कार्य्य-प्रणाली आदि पर भी अनेक प्रकार के आक्षेप करने लगे; और कुछ सज्जनों ने तो छिपे-छिपे ही यहाँ तक उद्योग किया कि अब तक कोश के कार्य्य में जो कुछ व्यय हुआ है, वह सब सभा को देकर कोश की सारी सामग्री उससे ले ली जाय और स्वतंत्र रूप से उसके संपादन तथा प्रकाशन आदि की व्यवस्था की जाय। यह विचार यहाँ तक पक्का हो गया था कि एक स्वनामधन्य हिंदी विद्वान् से संपादक होने के लिये पत्र-व्यवहार तक किया गया था। साथ ही मुझे उस काम से विरत करने के लिये मुझ पर प्रत्यक्ष और प्रच्छन्न रीति से अनेक प्रकार के अनुचित आक्षेप तथा दोषारोपण किए गए थे। इस आंदोलन में व्यक्तिगत भाव अधिक था। पर थोड़े ही दिनों में यह अप्रिय और हानिकारक आंदोलन ठंढा पड़ गया और फिर सब कार्य्य सुचारुरूप से पूर्ववत्

चलने लगा। "श्रेयांसि बहुविघ्नानि" के अनुसार इस बड़े काम में भी समय-समय पर अनेक विघ्न उपस्थित हुए; पर ईश्वर की कृपा से उनके कारण इस कार्य्य में कुछ हानि नहीं पहुँची।

सन् १९१३ में कोश का काम अच्छी तरह चल निकला। वह बराबर नियमित रूप से संपादित होने लगा और संख्याएँ बराबर छपकर प्रकाशित होने लगीं। बीच-बीच में आवश्यकतानुसार संपादन-कार्य्य में कुछ परिवर्तन भी होता रहा। इसी बीच पंडित बालकृष्ण भट्ट, जो इस वृद्धावस्था में भी बड़े उत्साह के साथ कोश-संपादन के कार्य्य में लगे हुए थे, अपनी दिन पर दिन बढ़ती हुई अशक्तता के कारण अभाग्यवश नवंबर १९१३ में कोश के कार्य्य से अलग होकर प्रयाग चले गए और वहीं थोड़े दिनों बाद उनका देहांत हो गया। उस समय बाबू रामचंद्र वर्म्मा उनके स्थान पर कोश के सहायक संपादक बना दिए गए और कार्य्य-क्रम में फिर कुछ परिवर्तन की आवश्यकता पड़ी। निश्चित हुआ कि बाबू जगन्मोहन वर्म्मा, लाला भगवानदीन तथा बाबू अमीरसिंह आगे के शब्दों का अलग-अलग संपादन करें और पंडित रामचंद्र शुक्ल तथा बाबू रामचंद्र वर्म्मा संपादित किए हुए शब्दों को अलग-अलग दोहरा-कर एक मेल करें। इस क्रम में यह सुभीता हुआ कि आगे का संपादन भी अच्छी तरह होने लगा और संपादित शब्द भी ठीक तरह से दोहराए जाने लगे; और दोनों ही कार्य्यों की गति में भी यथेष्ट वृद्धि हो गई। इस प्रकार १९१७ तक बराबर काम चलता रहा और कोश की १५ संख्याएँ छपकर प्रकाशित हो गईं तथा

ग्राहक-संख्या में बहुत वृद्धि हो गई। इस बीच में और कोई विशेष उल्लेख योग्य बात नहीं हुई।

१९१८ के आरंभ में तीन सहायक संपादकों ने "ला" तक संपादन कर डाला और दो सहायक संपादकों ने "बि" तक के शब्द दोहरा डाले। उस समय कई महीनों से कोश की बहुत कापी तैयार रहने पर भी अनेक कारणों से उसका कोई अंक छपकर प्रकाशित न हो सका जिसके कारण आय रुकी हुई थी। कोश-विभाग का व्यय बहुत अधिक था और कोश के संपादन का कार्य्य प्राय: समाप्ति पर था: अत: कोश-विभाग का व्यय कम करने की इच्छा से विचार हुआ कि अप्रैल १९१८ से कोश का व्यय कुछ घटा दिया जाय। तदनुसार बाबू जगन्मोहन वर्म्मा, लाला भगवानदीन और बाबू अमीरसिंह त्यागपत्र देकर अपने-अपने पद से अलग हो गए। कोश-विभाग में केवल दो सहायक संपादक पंडित रामचंद्र शुक्ल और बाबू रामचंद्र वर्म्मा तथा स्लिपों का क्रम लगानेवाले और साफ कापी लिखनेवाले एक लेखक पंडित ब्रजभूषण ओझा रह गए। इस समय आगे के शब्दों का संपादन रोक दिया गया और केवल पुराने संपादित शब्द ही दोहराए जाने लगे। पर जब आगे चलकर दोहराने योग्य स्लिपें प्राय: समाप्त हो चलीं, और आगे नये शब्दों के संपादन की आवश्यकता प्रतीत हुई, तब संपादन-कार्य के लिये बाबू कालिकाप्रसाद नियुक्त किए गए जो कई वर्षों तक अच्छा काम करके और अंत में त्यागपत्र देकर अन्यत्र चले गए। परंतु स्लिपों को दोहराने का कार्य पूर्ववत् प्रचलित रहा।

सन् १९२४ में कोश के संबंध में एक हानिकारक दुर्घटना हो गई थी। आरंभ में शब्द-संग्रह के लिये जो स्लिपें तैयार हुई थीं, उनके २२ बंडल कोश-कार्यालय से चोरी चले गए। उनमें "विव्वोक" से "शं" तक की और "शय" से "सही" तक की स्लिपें थीं। इसमें कुछ दोहराई हुई पुरानी स्लिपें भी थीं जो छप चुकी थीं। इन स्लिपों के निकल जाने से तो कोई विशेष हानि नहीं हुई, क्योंकि सब छप चुकी थीं। परंतु शब्द-संग्रहवाली स्लिपों के चोरी जाने से अवश्य ही बहुत बड़ी हानि हुई। इनके स्थान पर फिर से कोशों आदि से शब्द एकत्र करने पड़े। यह शब्द-संग्रह अपेक्षाकृत थोड़ा और अधूरा हुआ और इसमें स्वभावतः ठेठ हिंदी या कविता आदि के उतने शब्द नहीं आ सके जितने आने चाहिए थे, और न प्राचीन काव्य-ग्रंथों आदि के उदाहरण ही सम्मिलित हुए। फिर भी जहाँ तक हो सका, इस त्रुटि की पूर्ति करने का उद्योग किया गया और परिशिष्ट में बहुत-से छूटे हुए शब्द आ भी गए हैं।

सन् १९२५ में कार्य शीघ्र समाप्त करने के लिये कोश-विभाग में दो नए सहायक अस्थायी रूप से नियुक्त किए गए—एक तो कोश के भूतपूर्व संपादक बाबू जगन्मोहन वर्म्मा के सुपुत्र बाबू सत्यजीवन वर्म्मा, एम० ए० और दूसरे पंडित अयोध्यानाथ शर्मा, एम० ए०। यद्यपि ये सज्जन कोश-विभाग में प्रायः एक ही वर्ष रहे थे, परंतु फिर भी इनसे कोश का कार्य्य शीघ्र समाप्त करने में और विशेषतः व, श, ष तथा स के शब्दों के संपादन में अच्छी सहायता मिली। जब ये दोनों सज्जन सभा से संबंध त्यागकर चले गए तब संपादन-कार्य्य

के लिये श्रीयुत पंडित वासुदेव मिश्र, जो आरंभ में भी कोश-विभाग में शब्द-संग्रह का काम कर चुके थे और जो इधर बहुत दिनों तक कलकत्ते के दैनिक भारतमित्र तथा साप्ताहिक श्रीकृष्ण-संदेश के सहायक संपादक रह चुके थे, कोश-विभाग में सहायक संपादक के पद पर नियुक्त कर लिए गए। इनकी नियुक्ति से संपादन-कार्य्य बहुत ही सुगम हो गया और वह बहुत शीघ्रता से अग्रसर होने लगा। अंत में इस प्रकार सन् १९२७ ई० में कोश का संपादन आदि समाप्त हुआ।

इतने बड़े शब्द-कोश में बहुत-से शब्दों का अनेक कारणों से छूट जाना बहुत ही स्वाभाविक था। एक तो यों ही सब शब्दों का संग्रह करना बड़ा कठिन काम है, तिस पर एक जीवित भाषा में नए शब्दों का आगम निरंतर होता रहता है। यदि किसी समय समस्त शब्दों का संग्रह किसी उपाय से कर भी लिया जाय और उनके अर्थ आदि भी लिख लिए जायँ, पर जब तक यह संग्रह छपकर प्रकाशित हो सकेगा तब तक और नए शब्द भाषा में सम्मिलित हो जायँगे। इस विचार से तो किसी जीवित भाषा का शब्द-कोश कभी पूर्ण नहीं माना जा सकता। इन कठिनाइयों के अतिरिक्त यह बात भी ध्यान में रखनी चाहिए कि हिंदी-भाषा के इतने बड़े कोश को तैयार करने का इतना बड़ा आयोजन यह पहला ही हुआ है। अतएव इसमें अनेक त्रुटियों का रह जाना कोई आश्चर्य की बात नहीं है। फिर भी इस कोश की समाप्ति में प्रायः २० वर्ष लगे। इस बीच में समय-समय पर बहुत-से ऐसे नए शब्दों का पता लगता था जो शब्द-सागर में नहीं मिलते थे। इसके अतिरिक्त देश की राजनीतिक प्रगति

आदि के कारण बहुत-से नये शब्द भी प्रचलित हो गए थे जो पहले किसी प्रकार संगृहीत ही नहीं हो सकते थे। साथ ही कुछ शब्द ऐसे भी थे जो शब्द-सागर में छप तो गए थे, परंतु उनके कुछ अर्थ पीछे से मालूम हुए थे। अतः यह आवश्यक समझा गया कि इन छूटे हुए या नव प्रचलित शब्दों और छूटे हुए अर्थों का अलग संग्रह करके परिशिष्ट रूप में दे दिया जाय। तदनुसार प्रायः एक वर्ष के परिश्रम में ये शब्द और अर्थ भी प्रस्तुत करके परिशिष्ट रूप में दे दिए गए हैं। आज-कल समाचार-पत्रों आदि या बोलचाल में जो बहुत-से राजनीतिक शब्द प्रचलित हो गए हैं, वे भी इसमें दे दिए गए हैं। सारांश यह कि इसके संपादकों ने अपनी ओर से कोई बात इस कोश के सर्वांगपूर्ण बनाने में उठा नहीं रखी है। इसमें जो दोष, अभाव या त्रुटियाँ हैं उनका ज्ञान जितना इसके संपादकों को है उतना कदाचित् किसी दूसरे को होना कठिन है, पर ये बातें असावधानी से अथवा जान-बूझकर नहीं होने पाई हैं। अनुभव भी मनुष्य को बहुत-कुछ सिखाता है। इसके संपादकों ने भी इस कार्य को करके बहुत-कुछ सीखा है और वे अपनी कृति के अभावों से पूर्णतया अभिज्ञ हैं।

यहाँ पर यह कहना कदाचित् अनुचित न होगा कि भारतवर्ष की किसी वर्तमान देश-भाषा में उसके एक बृहत् कोश के तैयार कराने का इतना बड़ा और व्यवस्थित आयोजन इस समय तक दूसरा अब तक नहीं हुआ था। जिस ढंग पर यह कोश प्रस्तुत करने का विचार किया गया था, उसके लिये बहुत अधिक परिश्रम तथा

विचारपूर्वक कार्य करने की आवश्यकता थी। साथ ही इस बात की भी बहुत बड़ी आवश्यकता थी कि जो सामग्री एकत्र की गई है, उसका किस ढंग से उपयोग किया जाय और भिन्न-भिन्न भावों के सूचक अर्थ आदि किस प्रकार किए जायँ, क्योंकि अभी तक हिंदी, उर्दू, बँगला, मराठी या गुजराती आदि किसी देशी भाषा में आधुनिक वैज्ञानिक ढंग पर कोई शब्द-कोश प्रस्तुत नहीं हुआ था। अब तक जितने कोश बने थे, उन सबमें वह पुराना ढंग काम में लाया गया था और एक शब्द के अनेक पर्य्याय एकत्र करके रख दिए गए थे। किसी शब्द का ठीक-ठीक भाव बतलाने का कोई प्रयत्न नहीं किया गया था। परंतु विचारवान् लोग समझ सकते हैं कि केवल पर्य्याय से ही किसी शब्द का ठीक-ठीक भाव या अभिप्राय समझ में नहीं आ सकता, और कभी-कभी तो कोई पर्य्याय अर्थ के संबंध में जिज्ञासु को और भी भ्रम में डाल देता है। इसी लिए शब्द-सागर के संपादकों को एक ऐसे नए क्षेत्र में काम करना पड़ा था, जिसमें अभी तक कोई काम हुआ ही नहीं था। वे प्रत्येक शब्द को लेते थे, उसकी व्युत्पत्ति ढूँढ़ते थे; और तब एक या दो वाक्यों में उसका भाव स्पष्ट करते थे; और यदि यह शब्द वस्तु-वाचक होता था, तो उस वस्तु का यथासाध्य पूरा-पूरा विवरण देते थे; और तब उसके कुछ उपयुक्त पर्य्याय देते थे। इसके उपरांत उस शब्द से प्रकट होनेवाले अन्यान्य भाव या अर्थ, उत्तरोत्तर विकास के क्रम से, देते थे। उन्हें इस बात का बहुत ध्यान रखना पड़ता था कि एक अर्थ का सूचक पर्य्याय दूसरे अर्थ के अंतर्गत न चला जाय। जहाँ आवश्यकता

होती थी, वहाँ एक ही तरह के अर्थ देनेवाले दो शब्दों का अंतर भी भली भाँति स्पष्ट कर दिया जाता था। उदाहरण के लिए "टँगना" और "लटकना" इन दोनों शब्दों को लीजिए। शब्द-सागर में इन दोनों के अर्थों का अंतर इस प्रकार स्पष्ट किया गया है—'टँगना' और 'लटकना' इन दोनों के मूल भाव में अंतर है। 'टँगना' शब्द में ऊँचे आधार पर टिकने या अड़ने का भाव प्रधान है और 'लटकना' शब्द में ऊपर से नीचे तक फैले रहने या हिलने-डोलने का।

इसी प्रकार दर्शन, ज्योतिष, वैद्यक, वास्तुविद्या आदि अनेक विषयों के पारिभाषिक शब्दों के भी पूरे-पूरे विवरण दिए गए हैं। प्राचीन हिंदी-काव्यों में मिलनेवाले ऐसे बहुत-से शब्द इसमें आए जो पहले कभी किसी कोश में नहीं आए थे। यही कारण है कि हिंदी-प्रेमियों तथा पाठकों ने आरंभ में ही इसे एक बहुमूल्य रत्न की भाँति अपनाया और इसका आदर किया। प्राचीन हिंदी-काव्यों का पढ़ना और पढ़ाना एक ऐसे कोश के अभाव में, प्रायः असंभव था। इस कोश ने इसकी पूर्त्ति करके वह अभाव बिलकुल दूर कर दिया। पर यहाँ यह भी कह देना आवश्यक जान पड़ता है कि अब भी इसमें कुछ शब्द अवश्य इसलिये छूटे हुए होंगे कि हिंदी के अधिकांश छपे हुए काव्यों में न तो पाठ ही शुद्ध मिलता है और न शब्दों के रूप ही शुद्ध मिलते हैं।

इन सब बातों से यह भली भाँति स्पष्ट है कि इस कोश में जो कुछ प्रयत्न किया गया है, बिलकुल नए ढंग का है। कदाचित् यहाँ पर यह कह देना अनुपयुक्त न होगा कि कुछ लोगों ने किसी-किसी

जाति अथवा व्यक्ति-विषयक विवरण पर आपत्तियाँ की हैं। मुझे इस संबंध में इतना ही कहना है कि हमारा उद्देश्य किसी जाति को ऊँची या नीची बनाना न रहा है और न हो सकता है। इस संबध में न हम शास्त्रीय व्यवस्था देना चाहते थे और न उसके अधिकारी थे। जो सामग्री हमको मिल सकी उसके आधार पर हमने विवरण लिखे। उसमें भूल होना या कुछ छूट जाना कोई असंभव बात नहीं है। इसी प्रकार जीवनी के संबंध में मतभेद या भूल हो सकती है।

इस प्रकार यह बृहत् आयोजन २० वर्ष के निरंतर उद्योग, परिश्रम और अध्यवसाय के अनंतर समाप्त हुआ है। इसमें सब मिलाकर ९३,११५ शब्दों के अर्थ तथा विवरण दिए गए हैं और आरंभ में हिंदी-भाषा और साहित्य के विकास का इतिहास भी दे दिया गया है। इस समस्त कार्य्य में सभा का १,०२,०५०) व्यय हुआ है, जिसमें छपाई आदि का भी व्यय सम्मिलित है। इस कोश की सर्वप्रियता और उपयोगिता का इससे बढ़कर और क्या प्रमाण (यदि किसी प्रमाण की आवश्यकता है) हो सकता है कि कोश समाप्त भी नहीं हुआ और इसके पहले ही इसके खंडों को दो-दो और तीन-तीन बेर छापना पड़ा है और कुछ काल तक इसके समस्त खंड प्राप्य नहीं थे। इसकी उपयोगिता का दूसरा बड़ा भार प्रमाण यह है कि अभी यह ग्रंथ समाप्त भी नहीं हुआ था वरन् यों कहना चाहिए कि अभी इसका थोड़ा ही अंश छपा था जब कि इससे चोरी करना आरंभ हो गया था और यह काम अब तक चला जा रहा है। पर असल और नकल में जो भेद संसार में होता है वही यहाँ भी दीख पड़ता

है। यदि इस संबंध में कुछ कहा जा सकता है तो इतना ही कि इन महाशयों ने चोरी पकड़े जाने के भय से इस कोश के नाम का उल्लेख करना भी अनुचित समझा है।

जो कुछ ऊपर लिखा जा चुका है, उससे स्पष्ट है कि इस कोश के कार्य्य में आरंभ से लेकर अंत तक पंडित रामचंद्र शुक्ल का संबध रहा है, और उन्होंने इसके लिये जो कुछ किया है, वह विशेष रूप से उल्लिखित होने योग्य है। यदि यह कहा जाय कि शब्द-सागर की उपयोगिता और सर्वांगपूर्णता का अधिकांश श्रेय पंडित रामचंद्र शुक्ल को प्राप्त है, तो इसमें कोई अत्युक्ति न होगी। एक प्रकार से यह उन्हीं के परिश्रम, विद्वत्ता और विचारशीलता का फल है। इतिहास, दर्शन, भाषा-विज्ञान, व्याकरण, साहित्य आदि के सभी विषयों का समीचीन विवेचन प्राय: उन्हीं का किया हुआ है। यदि शुक्ल जी सरीखे विद्वान् की सहायता न प्राप्त होती तो केवल एक या दो सहायक संपादकों की सहायता से यह कोश प्रस्तुत करना असंभव ही होता। शब्दों को दोहराकर छपने के योग्य ठीक करने का भार पहले उन्हीं पर था। कदाचित् यहाँ पर यह कह देना अत्युक्ति न होगी कि कोश ने शुक्ल जी को बनाया और कोश को शुक्ल जी ने, जिस प्रकार सभा को मैंने बनाया और सभा ने मुझे, फिर आगे चलकर थोड़े दिनों बाद उनके सुयोग्य साथी बाबू रामचंद्र वर्म्मा ने भी इस काम में उनका पूरा-पूरा हाथ बँटाया और इसी लिये इस कोश को प्रस्तुत करनेवालों में दूसरा मुख्य स्थान बाबू रामचंद्र वर्म्मा को प्राप्त है। कोश के साथ उनका संबंध भी प्राय: आदि से अंत तक रहा है

और उनके सहयोग तथा सहायता से कार्य्य के समाप्त करने में बहुत अधिक सुगमता हुई है। इनके अतिरिक्त स्वर्गीय पंडित बालकृष्ण भट्ट, स्वर्गीय बाबू जगन्मोहन वर्म्मा, स्वर्गीय बाबू अमीर-सिंह तथा स्वर्गीय लाला भगवानदीन ने इस कोश के संपादन में बहुत-कुछ काम किया है और उनके उद्योग तथा परिश्रम से इस कोश के प्रस्तुत करने में बहुत सहायता मिली है।

इनके अतिरिक्त अन्य विद्वानों, सहायकों तथा दानी महानुभावों के प्रति भी मैं अपनी कृतज्ञता प्रकट करता हूँ जिन्होंने किसी न किसी रूप में इस कार्य को अग्रसर तथा सुसंपन्न करने में सहायता की है, यहाँ तक कि जिन्होंने इसकी त्रुटियाँ दिखाई हैं उनका भी मैं कृतज्ञ हूँ; क्योंकि उनकी कृपा से हमें अधिक सचेत और सावधान होकर काम करना पड़ा है। ईश्वर की परम कृपा है कि अनेक विघ्न-बाधाओं के समय-समय पर उपस्थित होते हुए भी यह कार्य सन् १९२९ में समाप्त हो गया। कदाचित् यह कहना कुछ अत्युक्ति न समझा जायगा कि इसकी समाप्ति पर जितना आनंद और संतोष मुझको हुआ है उतना दूसरे किसी को होना असंभव नहीं तो कठिन अवश्य है। काशी-नागरी-प्रचारिणी सभा अपने इस उद्योग की सफलता पर अपने को कृतकृत्य मानकर अभिमान कर सकती है।

इस कोश की संमाप्ति पर सभा ने बड़ा आनंद प्रकट किया और बड़े उत्साह तथा समारोह के साथ उत्सव मनाया। संवत् १९८५ की वसंत-पंचमी को यह उत्सव मनाया गया। इसमें अनेक लोग बाहर से भी आए तथा संयुक्त प्रदेश की गवर्मेंट ने बधाई का तार

भेजा और कींस कालेज के प्रिंसपल को अपना प्रतिनिधि बनाकर उत्सव में सम्मिलित होने तथा सभा को बधाई देने के लिये आदेश दिया। गवर्मेंट का तार यह था—

"Governor acting with his ministers congratulates Rai Sahib Shyam Sundar Das on the successful compilation of Hindi Dictionary and deputes Principal Sanjiva Rao as Government's representative to participate in the celebration in the Sabha of the achievement."

इसके अतिरिक्त निम्नलिखित संस्थाओं तथा व्यक्तियों ने बधाई के पत्र और भेजे—

(१) बंगाल की एशियाटिक सोसाइटी—

"On behalf of the Asiatic Society of Bengal and of myself I wish to send my hearty congratulation at the occasion of the successful completion of the fine work of learning by which your Sabha and all those concerned in the work have laid India under a debt of obligation, and to add an expression of great admiration and appreciation of the devoted and erudite labours of the Pandits actually responsible for the compilation of this treasury of Indian Lexicography which constitutes an enduring monument to their industry, scholarship and devoted service to their motherland."

(२) गुजरात वर्नाक्यूलर सोसाइटी का तार—

"Gujrat Vernacular Society rejoices in the achievement of a sister institution in completing an epoch-making work, new Hindi Dictionary, and participates in the celebrations to congratulate the Chief Editor Babu Shyam Sundar Das and noble band of learned associates, who against tremendous odds carried it through successfully. Accept hearty congratulations from me as well as Editor Buddhi Prakash."

(३) डाक्टर जी० ए० ग्रियर्सन का पत्र—

"Although to my regret, it is beyond my power to contribute a formal essay for this commemoration volume, I cannot let the opportunity pass without offering my congratulations to Mr. Shyam Sundar Das on the successful completion of the Hindi Shabd-Sagar, of which he has been Chief Editor. It is a most important and valuable work, and it is everyway worthy of the high reputation of a scholar, whose writings I have studied and admired for more than thirty years. May he live for many more years to be a guide and helper to students of the Hindi language for which he has already done so much."

(४) पंडित महावीरप्रसाद द्विवेदी का पत्र—

"काशी की नागरी-प्रचारिणी सभा से मेरा संबंध प्रायः उसके

जन्म-काल ही से है। जिस तरह एक बहुत छोटे से बीज से विशाल वटवृक्ष विकसित होता है, उसी तरह यह सभा भी बहुत छोटे आकार से विकसित होती हुई अपने वर्तमान आकार-प्रकार को प्राप्त हुई है। इसका विशेष श्रेय इसके काशी-निवासी कुछ सभासदों और कार्यकर्त्ताओं को है। पहले इसकी तरफ बाहरी विद्वानों और हिंदी के हितचिंतकों का ध्यान कम था। परंतु अब वह बात नहीं। अब तो उनमें से भी अनेक कृतविद्य सज्जन इसकी सहायता और उन्नति के कार्य में दत्तचित्त हैं।

"इस सभा को अनेक विघ्न-बाधाओं का सामना करना पड़ा है। इसके कार्यकलापों की कठोर आलोचनाएँ भी होती रही हैं और अब भी कभी-कभी हो जाती हैं। मुझे खेद है; पर सच्चे हृदय से स्वीकार करना ही पड़ता है कि इन विरोधात्मक आलोचनाओं के कर्त्ताओं में मुझ अधम की भी कई बार प्रतीति हो चुकी है। इसका प्रायश्चित्त भी मैं कर चुका हूँ। यह सब होते हुए भी सभा के कार्यकर्त्ता अपने उद्दिष्ट पथ से भ्रष्ट नहीं हुए। उनके इस मातृभाषा-प्रेम और हृदयौदार्य की जितनी प्रशंसा की जाय कम है। उन्होंने सारी विघ्न-बाधाओं का उल्लंघन करके सभा को उस उच्च स्थिति को पहुँचा दिया है जिसमें उसे जन-समुदाय इस समय देख रहा है।

"सभा ने देवनागरी-लिपि और हिंदी-भाषा के साहित्य की उन्नति के लिये यथाशक्य अनेक काम किए हैं। उन सबमें उसका एक काम सबसे अधिक उल्लेख योग्य है। वह है हिंदी-शब्द-सागर नामक विस्तृत कोश का निर्माण। यह कोश शब्द-कल्पद्रुम, शब्द-स्तोम-

महानिधि और सेंट-पीटर्सबर्ग में प्रकाशित प्रचंड कोश की समकक्षता करनेवाला है। अपने देश की किसी अन्य प्रचलित भाषा में निर्मित इस तरह का कोई अन्य कोश मेरे देखने में नहीं आया। यह कई जिल्दों में है और गवर्मेंट तथा अन्य हिंदी-हितैषियों-द्वारा प्रदत्त धन की सहायता से अनेक वर्षों के कठिन परिश्रम की बदौलत अस्तित्व में आया है। यों तो वर्तमान और प्राचीन भाषाओं के अनेक कोश हैं और बड़े-बड़े हैं, पर जो विशेषता इसमें है वह शायद ही किसी और में हो। यह काम किसी एक ही मनुष्य के बूते का था भी नहीं। यदि सभा इसके निर्माण के लिये दत्तचित्त न होती तो किसी एक ही सज्जन के द्वारा इसकी रचना कम से कम, इस समय तो असंभव ही थी। अतएव इसके संपादक और विशेष करके प्रधान संपादक, बाबू श्यामसुंदरदास बी० ए० समस्त हिंदी-भाषा-भाषी जनसमुदाय के धन्यवाद के पात्र हैं। परमात्मा उन्हें दीर्घायुरारोग्य दे और उनका सतत कल्याण करे।"

यह सब हुआ; पर साहित्य-सम्मेलन के कान पर जूँ तक न रेंगी। न उसने सभा को बधाई दी और न उनका कोई प्रतिनिधि ही उत्सव में सम्मिलित हुआ। अस्तु यहाँ पर इस कोश के संबंध में कुछ विशेष बातों का उल्लेख करना चाहता हूँ।

(१) कोशकार्यालय का निरीक्षण करने के लिये एक छोटी कमेटी थी। जब तक मैं काशी में रहा, मैं ही इसका संयोजक रहा। मेरे काश्मीर चले जाने पर पंडित केशवदेव शास्त्री संयोजक बने। वे बड़े चलते-पुर्जे और उन आर्यसमाजियों में से थे जो सब बातों

में अपनी टाँग अड़ाते हैं और अपना अधिकार प्रदर्शित करने के लिये सब कुछ कर बैठते हैं। स्वभावतः अन्य आर्यसमाजी उनका पक्ष समर्थन करते थे। ये उस समय काशी में वैद्यक करते थे, इनसे कोशकार्यालय के कार्य करनेवालों से न पटी। ये चाहते थे कि सब लोग ठीक समय पर आवें और बराबर कार्य करते रहें तथा उनके काम की नाप जाँच नित्य होती रहे। पंडित रामचंद्र शुक्ल कभी समय पर नहीं आते थे। उनकी प्रकृति ही ऐसी ढीली-ढाली थी कि समय पर काम करना उनके लिये असंभव था। उनकी देखा-देखी और लोग भी देर से आते रहे। मैं स्वयं इस बात से असंतुष्ट था। मैंने कई बेर इन लोगों को समझाया कि समय पर आया करें। पर किसी की प्रकृति और स्वभाव में परिवर्तन करना मेरी शक्ति के बाहर था। साथ ही मैं इस बात के भी पक्ष में नहीं था कि साहित्यिक काम की जाँच-पड़ताल तराजू पर तौलकर की जानी चाहिए। सारांश यह कि मनोमालिन्य बढ़ता गया और मुझे ऐसा अनुभव होने लगा कि इस अवस्था से काम बिगड़ जायगा। साथ ही मैं सब बातों में न कायकर्त्ताओं का पक्ष समर्थन कर सकता था और न पंडित केशवदेव शास्त्री का पक्ष ले सकता था। कई बेर समझौते का उद्योग हुआ, पर जब काम का ठीक-ठीक प्रबंध न हो सका तब मैंने हारकर इस काम से अलग हो जाने की प्रार्थना की। पंडित केशवदेव शास्त्री के पक्ष में विशेषतः पंडित रामनारायण मिश्र, बाबू गौरीशंकरप्रसाद और बाबू शिवप्रसाद गुप्त थे। अन्तर्गोष्टी में यह ठहरा कि पहले कोई संपादक ठीक कर लिया जाय तब

त्यागपत्र स्वीकार किया जाय। इसके लिये उन लोगों ने पंडित महावीरप्रसाद द्विवेदी को चुना और बाबू शिवप्रसाद गुप्त ने उन्हें संपादकत्व स्वीकार करने के लिये पत्र भी लिखा, पर द्विवेदी जी ने उसे स्वीकार न किया। हारकर यह निश्चय करना पड़ा कि जहाँ मैं रहूँ वहीं कोशकार्यालय भी रहे। यह सब हुआ पर कोश-कार्यालय के कार्यकर्त्ताओं की देर से आने की आदत न छूटी। मैं खूब समझता था कि साहित्यिक कार्य में बहुत खींच-तान करना लाभदायक न होगा। चुपचाप मैं इन लोगों की बातों को सहता रहा और किसी प्रकार जाकर यह कार्य समाप्त हुआ। पंडित केशवदेव शास्त्री की धृष्टता का मैं एक उदाहरण देता हूँ। वे अपने को सब विद्याओं में पारंगत समझते थे। प्रथम साहित्य-सम्मेलन की स्वागतसमिति के अध्यक्ष मेरे मित्र राय शिवप्रसाद थे। उनका भाषण मैंने लिखा था। उस पर कलम चलाने और उसे सुधारने का साहस इन शास्त्री जी ने किया। जब उनका संशोधित भाषण मेरे सामने रखा गया तो मुझे बड़ा बुरा लगा। मैंने उसको फाड़कर चिथड़े-चिथड़े कर दिया। पीछे से इन टुकड़ों को जोड़कर राय शिवप्रसाद ने अपना भाषण तैयार किया। इस घटना के दूसरे दिन पंडित रामनारायण मिश्र अपनी प्रकृति के अनुसार मुझसे मिलने आए और बात-चीत में इन्होंने इस बात का उद्योग किया कि उनकी ओर से मेरा मन मैला न हो जाय। मैं उनके इस स्वभाव से भली भाँति परिचित था। मैंने इस घटना का फिर किसी से उल्लेख नहीं किया।

(२) १८ जनवरी सन् १९१३ को संयुक्त-प्रदेश के लेफ्टनेंट

गवर्नर सर जेम्स मेस्टन सभा में पधारे। उनको सभा के सब विभाग भली भाँति दिखाए गए। कोश-कार्यालय का निरीक्षण उन्होंने बड़े ध्यान से किया। आरंभ से लेकर उसके प्रकाशन तक किस क्रम से काम हो रहा था, यह उन्हें बताया गया। उन लाखों स्लिपों का अंबार भी उन्हें दिखाया गया जिन पर भिन्न-भिन्न ग्रंथों से चुनकर शब्द लिखे गए थे। स्लिपों के इस पहाड़ को देखकर वे बड़े प्रभावित हुए। सभा ने उन्हें एक अभिनंदन पत्र देकर अधिक आर्थिक सहायता के लिये प्रार्थना की थी। जो उत्तर वे लिखकर लाए थे उसमें और सहायता देना अस्वीकार किया गया था। पर जो उत्तर उन्होंने दिया उसमें कहा कि गवर्मेंट और सहायता देने के संबंध में सहानुभूतिपूर्वक विचार करेगी। जब सर जेम्स जाने लगे तो उनके एडीकांग से मैंने उनके उत्तर की टाइप की हुई प्रति माँग ली। उसमें अंत का वाक्य काटकर नया वाक्य हाथ से लिखा था। इससे अनुमान होता है कि स्लिपों के ढेर को देखकर वे बड़े प्रभावित हुए थे। पीछे से गवर्मेंट ने ६,०००) रुपए की और सहायता दी।

(३) भारत-गवर्मेंट ने यह लिखा था कि यदि सभा कोश के लिये २०,०००) रुपया इकट्ठा कर लेगी तो भारत-गवर्मेंट ५,०००) रुपया सहायतार्थ देगी। १९,०००) से कुछ ऊपर इकट्ठा हो चुका था, पर २० हजार पूरा नहीं होता था। इस पर एक दिन मैं भिनगानरेश राजर्षि उदयप्रतापसिंह से मिला और उनसे सब व्यवस्था बताकर मैंने निवेदन किया कि आप एक हजार की सहायता दीजिए तो गवर्मेंट से ५,०००)

मिल जाय। उन्होंने अत्यंत उदारतापूर्वक इसे स्वीकार किया और थोड़े दिनों में ही १,०००) रुपया भेज दिया जिससे हमको भारत-गवर्मेंट से भी ५,०००) मिल गया।

(४) जब कोश की समाप्ति पर उत्सव मनाने की चर्चा हो रही थी तब यह निश्चय हुआ था कि प्रत्येक जीवित संपादक को एक दुशाला, एक घड़ी और एक फाउंटेन पेन उपहार में दी जाय जिसमें दुशाला उनके प्रति सम्मान का सूचक, घड़ी अपने समय को इस काम में लगाने की सूचक और कलम इस बात की सूचक हो कि उन्होंने इससे कितना बड़ा काम किया है। इन संपादकों में मेरा भी नाम था। एक दिन बातों-बातों में मैंने अपनी स्त्री से इस आयोजन का हाल कहा। उसने पूछा कि "क्या तुम भी दुशाला, घड़ी और कलम लोगे।" मैंने उत्तर दिया "क्यों नहीं?" उसने प्रत्युत्तर दिया—"यह सर्वथा अनुचित है। सभा को तुम अपनी कन्या मानते हो, उसकी कोई चीज को लेना अनुचित और धर्म-विरुद्ध समझते हो, फिर ये चीजें कैसे ले सकते हो?" मैं इस तर्क से चुप हो गया और साथ ही अपनी स्त्री की धर्मभावना पर मुग्ध होकर मैंने ये चीजें लेना अस्वीकार कर दिया। इस पर यह सोचा गया कि मेरे अभिनंदन में लेखों का एक संग्रह छापा जाय और वह मुझे भेंट किया जाय। इस पर मेरे एक मित्र ने पत्र लिखकर इसका घोर विरोध किया, अतः इसको भी मैंने अस्वीकार किया। तब अंत में कोशोत्सव-स्मारक संग्रह प्रकाशित किया गया और वह मुझे अर्पित किया गया। समर्पण-पत्र अग्रलिखित प्रकार था—

अपने जन्मदाता और प्राण
श्रीयुक्त बाबू श्यामसुंदरदास बी० ए०
को
जिनके परिश्रम, उद्योग और बुद्धिबल
तथा
जिनके संपादन में हिंदी-भाषा का सबसे बड़ा कोश हिंदी-
शब्द-सागर
प्रस्तुत हुआ है, उनके सम्मानार्थ तथा कीर्ति-रक्षार्थ काशी-नागरी-
प्रचारिणी सभा द्वारा
निवेदित।

इस संग्रह के संपादक तथा भूमिका-लेखक रायबहादुर महामहोपाध्याय डाक्टर गौरीशंकर हीराचंद्र ओझा थे।

(५) जब समस्त कोश छप गया तब इसकी भूमिका, प्रस्तावना आदि लिखने का प्रबंध किया गया। प्रस्तावना में हिंदी-भाषा और साहित्य का इतिहास है। हिंदी-भाषा का इतिहास मेरी भाषाविज्ञान नामक पुस्तक के अंतिम अध्याय का परिमार्जित और परिवर्धित रूप है। साहित्य का इतिहास पंडित रामचंद्र शुक्ल का लिखा है। शुक्ल जी का स्वभाव था कि वे किसी काम को समय पर नहीं कर सकते थे। उसे टाल रखते थे और प्रायः बहुत धीरे-धीरे काम करते थे। इसका मुझे पूरा-पूरा अनुभव था। पहले हम लोगों का विचार था कि शुक्ल जी और मैं दोनों मिलकर साहित्य का इतिहास तैयार करें। इसी ध्येय को सामने रखकर वीरगाथाकाल का अध्याय हम लोगों ने लिखा;

और वह नागरी-प्रचारिणी पत्रिका में प्रकाशित हुआ। पीछे जब साहित्य के इतिहास को हिंदीशब्दसागर में प्रस्तावनारूप से देने की जल्दी मची तब इस विचार में परिवर्त्तन हुआ। जो प्रूफ आता था वह संध्या को शुक्ल जी के पास भेज दिया जाता था। प्रातःकाल जब मैं घूमने निकलता तब उनके यहाँ जाता और प्रूफ तथा नई कापी ले आता। कभी-कभी पंडित केशवप्रसाद मिश्र भी मेरे साथ जाते। यह क्रम महीनों चला और तब जाकर यह अंश तैयार होकर छप गया। जब प्रस्तावना का अंतिम पृष्ठ छपने को था तब शुक्ल जी ने बिना कुछ कहे सुने प्रेस में जाकर प्रस्तावना के अंत में अपना नाम दे दिया। कदाचित् उनकी इस समय यह भावना हुई होगी कि मेरी इस अपूर्व कृति में किसी दूसरे का साझा न हो। अपनी कृति पर अभिमान होना स्वाभाविक है—

निज कवित्त केहि लाग न नीका।
सरस होइ अथवा अति फीका॥

यह कृति तो उत्कृष्ट थी। अतएव इस पर अभिमान होना कोई आश्चर्य की बात न थी, पर इस प्रकार चुपचाप अपना नाम छपवा देने में दो बातें स्पष्ट हुईं। एक तो यह कि वे किसी के सहयोग में अब काम करने को उद्यत न थे और दूसरे अनजाने में उन्होंने मेरे भाषा के इतिहास को भी अपना लिया। ऐसी ही एक घटना तुलसीग्रंथावली के संबंध में भी हुई। उसके तृतीय भाग में भिन्न-भिन्न लोगों के लेख थे। प्रस्तावना शुक्ल जी की लिखी हुई थी। उसके दो खंड चरित्र-खंड और आलोचना-खंड थे। चरित्र-खंड मेरी

एक कृति को घटा-बढ़ाकर प्रस्तुत किया गया था। यद्यपि भूमिका में शुक्ल जी ने इस बात को स्पष्ट कर दिया था, पर भ्रम के लिये स्थान था। मुझे आश्चर्य है कि यह भावना इतनी देर में क्यों प्रबल हुई। यदि यह पहले उत्पन्न हो जाती तो कदाचित् शब्दसागर के प्रत्येक शब्द पर जो उनका संपादित किया हुआ था, कोई ऐसा चिह्न वे बना देते जिससे उनकी कृति स्पष्ट हो जाती। इसके कुछ दिनों बाद शुक्ल जी ने मुझसे स्पष्ट कह दिया कि हम फरमायशी काम नहीं कर सकते। उस दिन से फिर मैंने कभी किसी ग्रंथ के लिखने के लिये उनसे नहीं कहा। इसका क्या परिणाम हुआ यह मेरे कहने की बात नहीं है। जब कोश छप गया तब शुक्ल जी के द्वितीय पुत्र ने आकर मुझसे कहा कि दोनों पुस्तकें भाषा और साहित्य का इतिहास, एक ही जिल्द में छपें, पर नाम अलग-अलग रहें। मैं नहीं कह सकता कि उसने यह अपने मन से कहा या शुक्ल जी के आदेशानुसार। मैंने इस प्रस्ताव को स्वीकार नहीं किया और यह निश्चय किया कि मैं स्वयं साहित्य का इतिहास लिखूँगा। मेरा विचार था कि भिन्न-भिन्न कालों की प्रवृत्तियों का विवेचन और वर्णन किया जाय, केवल किसी काल के कवियों की कविताओं को चुनकर न दिया जाय और न उन पर मत प्रकट किया जाय। यह काम १९३० में जाकर सम्पन्न हुआ। यह बड़ी सजधज के साथ प्रकाशित हुआ। इस संबंध में एक घटना का उल्लेख कर देना कदाचित् अनुचित न होगा। विश्वविद्यालय के एक प्रतिष्ठित अधिकारी ने एक दिन बातों के सिलसिले में मुझसे कह दिया

कि एक उदार महाशय ने किसी उच्चतम अधिकारी से जाकर कहा है कि यह ग्रंथ तुम्हारा लिखा नहीं है, दूसरे से लिखवाकर तुमने अपना नाम दे दिया है। मैंने किसी से इस बात को नहीं कहा, अपने मन में ही रखा। आज पहले-पहल प्रकाशित करता हूँ। शुक्ल जी की परिवर्तित भावना का एक नमूना और देना चाहता हूँ। अभ्युदय के एक संवाददाता ने सन् १९३४ में शुक्ल जी से मिलकर कुछ प्रश्न किए, जिसका प्रकाशन उस पत्र में हुआ। उसमें एक प्रश्न यह था कि "क्या आपने भाषा-विज्ञान लिखा है ?" कुछ उत्तर न देकर शुक्ल जी मुसकरा दिए। इससे जो अनुमान हो सकता है वह स्पष्ट है। शुक्ल जी ने मेरी "भाषा-विज्ञान" नामक पुस्तक प्रकाशित होने के पूर्व देखी भी न थी। पर मुसकराहट का यह अर्थ था कि हाँ, पुस्तक उन्हीं की लिखी है। इस प्रकाशन का जब उन्हें पता लगा तब उन्होंने मुझे यह पत्र मिर्जापुर से २१-६-३४ को लिखा—

"प्रिय बाबू साहब,

एक सज्जन से कल मुझे मालूम हुआ कि "अभ्युदय" में मेरा कोई वक्तव्य प्रश्नोत्तररूप में प्रकाशित हुआ है। मैं यहाँ "अभ्युदय" की वह संख्या ढुँढ़वा रहा हूँ, पर अभी तक मिली नहीं। मैं नहीं जानता कि उसमें क्या छपा है ?

एक महीने से ऊपर हुआ कि काशी में मेरे यहाँ सहसा मि० तकरू पहुँचे और कहा कि मुझे आपसे दो बातें पूछनी हैं। उन्होंने पूछा—"हिंदी-शब्द-सागर की भूमिका के रूप में हिंदी-भाषा और साहित्य के इतिहास दिए गए हैं; क्या दोनों इतिहास आप ही के

लिखे हैं ?" मैंने उत्तर दिया—"मेरा लिखा केवल साहित्य का इतिहास है; भाषा का इतिहास बाबू श्यामसुंदरदास का लिखा है।" इस पर मि० तकरू बोले—"भाषा का इतिहास जहाँ समाप्त हुआ है वहाँ तो बाबू श्यामसुंदरदास जी या और किसी का नाम नहीं है। हाँ, जहाँ साहित्य का इतिहास समाप्त हुआ है वहाँ आपका नाम दिया है।" मैंने उत्तर दिया—"पहले निश्चित हुआ था कि दोनों इतिहासों में (शब्द-सागर के अंतर्गत) किसी का नाम न दिया जाय; पीछे जब साहित्य का इतिहास प्राय: छप चुका तब विचार बदल गया और मेरा नाम उसके अंत में दे दिया गया।" बातचीत हो जाने पर मि० तकरू ने कहा कि मैंने ये बातें "अभ्युदय" के प्रतिनिधि के रूप में आपसे पूछी हैं।

केवल पाँच मिनट तकरू से और मुझसे बातचीत हुई थी। मुझे स्मरण आता है कि उस समय पंडित चन्द्रबली पाँड़े भी वहाँ मौजूद थे। उन्हीं के सामने ऊपर लिखी बातचीत हुई थी।

मैं "अभ्युदय" ढुँढ़वा रहा हूँ। मिलने पर देखूँगा। यदि जो बातें मैंने तकरू से कही थीं उसके विरुद्ध या उससे अधिक कुछ "अभ्युदय" में छपा होगा तो उसका खंडन करना मेरे लिये बहुत ही आवश्यक है।"

मैं नहीं कह सकता कि शुक्ल जी को "अभ्युदय" का वह अंक मिला या नहीं। हाँ, उनका खंडन तो अब तक देखने में नहीं आया। जिसने लंदन मिशन स्कूल से खींचकर साहित्य के महारथियों में स्थान पाने योग्य उन्हें बनाया, जिसने सदा उनकी

सहायता की, सब अवसरों पर उन्हें उत्साहित कर-करके उनसे ग्रंथ लिखवाए, उन्हें छपवाया और पुरस्कार दिलाया तथा सदा उन्हें आगे बढ़ाने का प्रयत्न किया, उसके प्रति यह "उदारता" शुक्ल जी या उनके जैसे लोगों को ही शोभा दे सकती है। इस संबंध में मैं इतना और कह देना चाहता हूँ कि मैंने इन सब बातों को उपेक्षा की दृष्टि से देखा; पर जिस पेड़ को मैंने लगाया उसे काटने की बात तो दूर रही, उसे कभी खरोच लगने तक का मैंने कभी स्वप्न भी नहीं देखा।

(६) कोश में कुछ जातियों का भी संक्षिप्त विवरण दिया गया है। कुछ लोगों को यह भ्रम हो गया कि यह तो हमारी जाति के विषय में एक प्रकार की शास्त्रीय व्यवस्था होगी। इस पर कुछ लोगों ने आपत्ति की। उनके पत्र समय-समय पर नागरी-प्रचारिणी पत्रिका में छाप दिए गए। पर भूमिहार ब्राह्मणों को विशेष आपत्ति थी। उन लोगों ने एक दिन कचौरी गली में लाला भगवानदीन पर आक्रमण किया। पर लाला भगवानदीन यों दबनेवाले न थे। उन्होंने गया की "लक्ष्मी" पत्रिका में विस्तारपूर्वक इस जाति का विवरण दिया। बाबू इंद्रनारायणसिंह के पुत्र बाबू कवींद्रनारायणसिंह ने काशी-नागरी-प्रचारिणी सभा की प्रबंध-समिति में मेरे विरुद्ध भी भर्त्सना का प्रस्ताव उपस्थित किया; पर वह स्वीकृत न हुआ। सच तो यह है कि भारतवर्ष में जाति-पाँति के झगड़ों ने कितने ही उपद्रव मचाए हैं। जाँच-पड़ताल करके तथ्य पर पहुँचने की प्रवृत्ति नहीं है। सभी जातियों के लोग अपने को क्षत्रिय या ब्राह्मण सिद्ध करने के उद्योग में रहते हैं। किसी-किसी जाति के लोग शास्त्रीय मर्यादा का

उल्लंघन कर यज्ञोपवीत भी धारण करने लग गए हैं। जन्म-प्रधान और कर्म-प्रधान का झगड़ा अभी तक चल ही रहा है। यह देश कब इन झगड़ों को शांतकर उन्नति के मार्ग पर अग्रसर होगा !

(७) कोश के उत्सव के साथ ही नवीन सभा-भवन के शिलान्यास का भी आयोजन किया गया और इस कार्य को सम्पन्न करना श्रद्धेय पंडित मदनमोहन मालवीय ने कृपाकर स्वीकार किया था। इस कार्य के निमित्त वे दिल्ली से काशी आए थे; पर यहाँ आने पर वे राजा मोतीचंद के यहाँ किसी यज्ञोपवीत संस्कार में सम्मिलित होने के लिये चले गये। यद्यपि सभा में इकट्ठे हुए सब लोग उनका आसरा देख रहे थे और वे भी सभा के सामने से ही गए और केवल १० मिनट तक ठहरकर इस उत्सव को सम्पन्न करने की उन्होंने कृपा न की। राजा मोतीचंद के यहाँ वे बहुत देर तक ठहरे रहे। ऐसा सुनने में भी आया कि एक महोदय ने उन्हें वहाँ जितनी देर तक रोकना संभव था, उतना रोका। अस्तु, जब बहुत देर हो गई तब पंडित गौरीशंकर हीराचंद ओझा-द्वारा शिलान्यास-संस्कार कराया गया। कार्य अभी समाप्त नहीं हुआ था कि मालवीय जी आ गए और बाकी कृत्य उनसे कराया गया। मुझे मालवीय जी के इस व्यवहार पर बड़ा खेद हुआ; कुछ क्रोध भी आया। पंडित रामनारायण मिश्र ने इस अवसर पर मेरी भर्त्सना की और कहा कि मेरे लिये इसका फल अच्छा न होगा, पर उनके उपदेश की उपेक्षा कर मैं सभा-भवन से इस कृत्य के समाप्त होने के पहले ही चला गया। निश्चित सायत टल गई और भवन आज तक न बन सका।

(१०)

लखनऊ का प्रवास

(१) अभी मैं बीमारी से उठकर पूर्णतया स्वस्थ भी नहीं हुआ था कि मुंशी गंगाप्रसाद वर्म्मा ने मुझे कालीचरण हाई स्कूल का हेडमास्टर बनाकर लखनऊ बुलाया। बाबू कालीचरण लखनऊ के रहनेवाले थे। उन्होंने कलकत्ते में जाकर बहुत धन कमाया और सार्वजनिक कामों के लिये एक लाख रुपयों का दानपत्र लिखकर उसकी रजिस्टरी करा दी। मुंशी गंगाप्रसाद वर्म्मा को किसी प्रकार इस दानपत्र का पता लग गया, यद्यपि उसके छिपाने का बहुत उद्योग किया गया था। उन्होंने दानपत्र की नकल लेकर उस रुपए के प्रामिसरी नोट खरीद लिए और उनके नाम से कालीचरण हाई स्कूल स्थापित करने का आयोजन किया। लखनऊ में एक खत्रीपाठशाला थी। उसी को उन्होंने हाई स्कूल बना दिया। स्कूल खुलते ही उसमें लड़कों की भर्ती होने लगी। मुझे पता नहीं था कि यह स्कूल अभी रिकगनाइज हुआ या नहीं, और विज्ञान की पढ़ाई के लिये आज्ञा ली गई है या नहीं। मैंने समझा था कि यह सब हो गया है। अतएव मैं लड़कों को भर्ती करने लगा। पीछे से ज्ञात हुआ कि मैंने भ्रमवश बहुत-सी बातें मान ली हैं। सराय मालीखाँ में एक जमीन लेकर वहाँ स्कूल की नई इमारत बन रही थी। कई महीने तक खत्रीपाठशाला के पुराने भवन में स्कूल चलता रहा, पर वह जगह छोटी थी और क्लास बढ़ गए थे। किसी प्रकार जल्दी करके नई इमारत तैयार की गई। वहाँ

जाने पर विदित हुआ कि विज्ञान पढ़ाने की आज्ञा नहीं ली गई है। अब बड़ी चिंता हुई। झटपट सायंस रूम तैयार किया गया और विज्ञान पढ़ाने का सब सामान मँगाया गया। उस समय लखनऊ में स्कूलों के इंसपेक्टर मिस्टर वर्ल थे। मैं जाकर उनसे मिला और सब बातें बताईं। उन्होंने कहा कि विज्ञान के क्लास खोलकर तुमने ठीक काम नहीं किया। उसके स्वीकार कराने में बड़ी कठिनाई होगी। मैंने कहा कि अब तो गलती हो गई, आपको उसके सुधारने में सहायता देनी चाहिए। उन्होंने कहा कि सायंस रूम जल्दी तैयार कराओ। जब तैयार हो जाय तब मुझे सूचना देना। मैं आकर उसका निरीक्षण करूँगा और तब अपनी रिपोर्ट भेजूँगा। यह तो उन्होंने मुझसे कहा पर प्रातःकाल दूसरे-तीसरे दिन आकर वे स्वयं देख जाते थे कि काम कैसे हो रहा है। जब काम पूरा हो गया तब वे स्वयं ही स्कूल के समय में निरीक्षण करने आए। सब प्रबंध देखकर उन्होंने प्रसन्नता प्रकट की और कहा कि मैं आज ही रिपोर्ट भेज दूँगा। मैंने निवेदन किया कि रिपोर्ट भेज देने ही से काम न चलेगा। आप इलाहाबाद-विश्वविद्यालय की सेंडिकेट की मीटिंग में स्वयं जाने का कष्ट उठावें और इस काम को पूरा करें। वे उस समय सेंडिकेट के मेंबर थे। वे इलाहाबाद गए और सब काम ठीक कर आए। मिस्टर वर्ल की इस सहायता के लिये मैं बहुत कृतज्ञ हुआ। यह सब आपत्ति मेरी भूल के कारण हुई थी। मुंशी गंगाप्रसाद वर्म्मा भी कई बेर मिस्टर वर्ल से मिलते रहे और उन्हें सहायता करने के लिये प्रेरणा करते रहे। इस प्रकार यह काम

संपन्न हुआ और स्कूल चलने लगा। खत्री-पाठशाला के सब अध्यापकों और कुछ नए अध्यापकों की नियुक्ति हुई। पुराने अध्यापकों में एक बड़ी त्रुटि थी कि वे समय पर न आते थे। इसमें मुझे बड़ी कठिनाइयाँ उठानी पड़ीं। पहले मैंने उन्हें समझाने का प्रयत्न किया, कुछ सफलता भी मिली, पर थोड़े दिनों के अनंतर फिर वही हाल हो गया। तब मैंने एक उपाय निकाला। मास्टरों की हाजिरी का रजिस्टर दफ्तर में रहता था। मैंने आज्ञा दी कि ठीक १० बजे यह मेरे कमरे में रख दिया जाया करे। इससे जो लोग देर करके आते उन्हें मेरे कमरे में आना पड़ता। यद्यपि मैं उनसे कुछ नहीं कहता था पर मेरे कमरे में आकर हाजिरी भरने से उनका यथेष्ट शासन हो जाता था। यह क्रम जब तक मैं लखनऊ में रहा, बराबर चलता रहा। एक बेर सर सुंदरलाल स्कूल देखने आए। उन्होंने स्कूल के भवन को देखकर कहा कि कमरों की जहाँ दो दीवालें मिलती हैं वहाँ पलस्तर से संधिस्थान को गोल बना दिया जाय जिससे गरदा न जमने पावे। अप्रैल सन् १९१४ में सर जेम्स मेस्टन ने आकर इस स्कूल का उद्घाटन-संस्कार किया। उस समय जो भाषण उन्होंने दिया उसमें मेरे लिये यह कहा था—

"The Committee is fortunate in securing the services as Head Master, of Babu Shyam Sundar Dass of Benares, an educationist of more than provincial repute, whose acquaintance I made in the sacred centre of Benares learning."

क्रम-क्रम से स्कूल में खेलने का मैदान ठीक किया गया, जमीन

की सफाई हुई, फूलों और फलों के पेड़ लगवाए गए तथा बोर्डिंग हाउस बना। यह बोर्डिंग हाउस अभी बनकर तैयार नहीं हुआ था कि नैनीताल में मुंशी गंगाप्रसाद वर्म्मा की अचानक मृत्यु हो गई। मुंशी जी बड़े साधु स्वभाव के पुरुष थे। देश की सेवा करना ही उनका व्रत था। लखनऊ नगर के सुधार में उन्होंने बहुत परिश्रम किया था। अमीनाबाद का कायापलट उन्हीं के उद्योग का फल था। पर दुःख की बात है कि वे अधिक दिन जीवित रहकर इस स्कूल की उन्नति न कर सके। उनके पीछे पंडित गोकर्णनाथ मिश्र स्कूल के निरीक्षक (Member in Charge) बने और उन्हीं की देख-रेख में सब काम होता था। संयोगवश जब मैं लखनऊ में ही था तब मेरे ज्येष्ठ तथा प्रथम पौत्र का देहांत हो गया। मुझे बड़ा दुःख हुआ। मैंने चाहा कि एक महीने की छुट्टी लेकर कहीं बाहर जाकर मन बहला आऊँ, पर मुंशी गंगाप्रसाद के भाई बाबू ईश्वरीप्रसाद की कृपा से यह छुट्टी न मिली। उन्होंने मेरे छुट्टी के आवेदन पर कुछ ऐसे कटु वाक्य कहे जिससे मुझे बड़ा दुःख हुआ, पर कुछ आश्चर्य नहीं हुआ, क्योंकि उनके कोई लड़का न था, संतति के प्रेम का कभी उन्होंने अनुभव ही नहीं किया था। इसमें उनका दूसरे के पौत्रशोक पर हँसी उड़ाना कोई ऐसी बात न थी कि जिस पर आश्चर्य किया जा सके। अस्तु, पंडित गोकर्णनाथ मिश्र के निरीक्षण में कार्य सुचारु रूप से चलता रहा। सन् १९२० में जब असहयोग-आंदोलन मचा और स्कूलों से लड़कों को उभाड़कर निकालने का उद्योग होने लगा तब एक दिन दोपहर के बाद पंडित गोकर्णनाथ मिश्र के छोटे भाई

पंडित हरकरणनाथ मिश्र के नेतृत्व में कुछ असहयोगी लोगों ने इस स्कूल पर भी आक्रमण किया, पर उनका उद्योग प्राय निष्फल गया, क्योंकि केवल दो या तीन लड़के क्लास छोड़कर बाहर चले गए। मैंने इसकी रिपोर्ट निरीक्षक महाशय से की। उन्होंने यह कहलाया कि उचित प्रबंध करो। मैंने जिन दिशाओं से आक्रमण हो सकता था उनकी दीवालें ऊँची करवा दीं। पीछे से मुझे ज्ञात हुआ कि जब मेरी रिपोर्ट पंडित गोकर्णनाथ मिश्र के पास पहुँची तो उन्होंने कहा कि डिप्टी कमिश्नर स्कूल कमेटी के प्रेसिडेंट हैं। स्कूल का गवर्मेंट की सहायता न लेना और उसको 'National School' बनाना असंभव है। यदि मैं इस समय इन आक्रमणों को रोकने के लिये कुछ करता हूँ तो इन लोगों की विजय होने पर ये मुझे कुत्तों से नुचवा डालेंगे। इसलिये मेरा कुछ करना कठिन है। हेडमास्टर जो उचित समझें करें। प्राय: प्राइवेट स्कूल में यह देखा जाता है कि जब कोई काम अच्छा हो जाता है तो कमेटी के मेंबर यह कह देते हैं—'We managed it so beautifully' और जब कोई बात बिगड़ जाती है तब कह देते हैं—'The Head Master spoilt the whole thing' यद्यपि पंडित गोकर्णनाथ मिश्र ने बड़े उत्साह से स्कूल का काम सँभाला और प्राय: सब बातों में मुझे उनके पूर्ण सहयोग का सौभाग्य प्राप्त होता रहा, तथापि यह स्थिति बड़ी भयावह थी। मैंने निश्चय कर लिया कि यहाँ रहना ठीक नहीं। यहाँ किसी दिन भारी आपत्ति आवेगी। इस निश्चय के अनुसार मैं किसी दूसरी जगह जीविका-निर्वाह के अवलंब की खोज में हुआ और

जुलाई १९२१ से मैंने त्यागपत्र दे दिया जो यथासमय स्वीकृत हुआ।

(२) लखनऊ के इस आठ वर्ष के प्रवास में सुख और दुःख दोनों हुए। मेरे बड़े लड़के कन्हैयालाल पर किसी आत्मीय जन ने कृत्या का प्रयोग कर दिया, जिससे बारह वर्ष तक घुल-घुलकर सन् १९२६ में उसका कलकत्ते में आँतों में कालिक दर्द की बीमारी से देहांत हो गया। इस लड़के ने एफ० ए० तक पढ़ा था, कोआपरेटिव सुसाइटी की परीक्षा भी पास की थी। यह कलकत्ते के इलाहाबाद बैंक में काम करने लग गया था। सन् १९१४ के जुलाई मास में अमृतसर में इसका विवाह हुआ था। यह संयोग मेरे लिये बड़ा दुःखद सिद्ध हुआ।

मेरे दूसरे लड़के नंदलाल ने इंट्रेंस तक पढ़ा, पर किसी काम पर वह स्थिर न रह सका। दो बैंकों में नौकरी की पर वहाँ भी टिक न सका। कई रोजगार किए पर सबमें घाटा उठाया। खान-पान तथा आचार-विचार में यह उच्छृंखल था। इससे उसे संग्रहणी रोग हो गया और उसी से १९३७ में काशी में इसका देहांत हुआ। इसका विवाह काशी के एक प्रतिष्ठित कपूरवंश में हुआ था। इसकी स्त्री के माता-पिता का देहांत हो चुका था पर उसका पालन-पोषण तथा सब संस्कार उसके ताया दीवान बालमुकुंद कपूर ने किया था। दीवान बालमुकुंद की मृत्यु के बाद उनके दोनों पुत्र दीवान गोकुलचंद और दीवान रामचंद्र बराबर सद्भाव तथा सज्जनता का बर्ताव करते आ रहे हैं।

(३) यहीं मेरे चतुर्थ पुत्र का जन्म हुआ। यह एम० ए०, बी-टी० पास करके लखनऊ के रीड क्रिश्चियन कालेज में काम कर रहा है। इसका विवाह प्रयाग के बाबू भगवानदास टंडन की ज्येष्ठा कन्या से हुआ है।

(४) सन् १९१४ में मैं गुरुकुल काँगड़ी के आर्य-भाषा-सम्मेलन का सभापति होकर वहाँ गया। इसके अनंतर हाथरस के एडवर्ड पुस्तकालय के वार्षिकोत्सव पर गया। वहाँ रायबहादुर सेठ चिरंजी-लाल बागला का अतिथि हुआ। उन्होंने कृपाकर ५००) हिंदी-मनोरंजन पुस्तकमाला के लिये दान दिये जो उन्होंने पीछे से सभा में भेज दिये। इसी समय स्वामी सत्यदेव भी वहाँ पधारे थे। उन्हें भी सेठ जी ने दक्षिणा में नागरी-प्रचार के लिये ५००) दिया। सन् १९१६ में मैं जबलपुर के श्री शारदापुस्तकालय के वार्षिकोत्सव पर गया। यहाँ पहले-पहल सेठ गोविंददास तथा डाक्टर हीरालाल से मेरा परिचय हुआ। सन् १९१८ में मैं अलीगढ़ के प्रांतीय साहित्य-सम्मेलन का सभापति होकर वहाँ भेजा गया। "भेजा गया" मैं इसलिये लिखता हूँ कि सम्मेलन की स्वागत-समिति ने काशी-नागरी-प्रचारिणी सभा को लिखा कि अलीगढ़ उर्दू का केन्द्र है। यहाँ के लिये किसी उपयुक्त व्यक्ति को सभापति के लिये चुनकर भेज दीजिए। सभा के आग्रह पर मैं वहाँ गया। इस सम्मेलन में जो वक्तृता मैंने दी उसकी पंडित मदनमोहन मालवीय ने प्रशंसा की। मैं जब यह वक्तृता दे रहा था तब बाबू रामचंद्र वर्म्मा लिखते जाते थे। बाबू रामचंद्र का यह अद्भुत कौशल देखकर मुझे बड़ा संतोष तथा आनंद हुआ।

(५) मैं हिंदी-साहित्य-सम्मेलन के भागलपुर, लखनऊ, प्रयाग, कानपुर, पटना और जबलपुर के अधिवेशनों में गया था। लखनऊ का सम्मेलन तो कालीचरण हाई स्कूल में ही हुआ था। इसमें मैंने भाग लिया था। यहाँ मुझे बाबू पुरुषोत्तमदास टंडन के स्वभाव से विशेष परिचय हुआ। प्रश्न यह था कि सम्मेलन के वार्षिक हिसाब की तिथियाँ नियत हों। टंडन जी चाहते थे कि कोई तिथि नियत न हो। वे इस बात पर अड़े रहे। वे इतने दृढ़ विचारवाले थे, यह मुझे पहले-पहल ज्ञात हुआ। लखनऊ के सम्मेलन में भाग लेने के कारण मुझे डिप्टी कमिश्नर की धमकी भी सहनी पड़ी थी। यहाँ से सम्मेलन को लाहौर का न्योता मिला, पर अंत समय में आपस में मतभेद हो जाने के कारण वहाँ सम्मेलन न हो सका। तब प्रयाग में उसके करने का प्रबंध हुआ। सम्मेलन की तिथि के ८-७ दिन पहले सम्मेलन के अर्थ-मंत्री पंडित लक्ष्मीनारायण लखनऊ में मेरे पास आए और कहने लगे कि तुम्हें सम्मेलन का सभापति होना पड़ेगा। मैंने कहा कि समय बहुत थोड़ा रह गया है। इसमें मैं अपना भाषण नहीं लिख सकता। उन्होंने कहा, जो चाहे करो पर इस पद को स्वीकार करने के अतिरिक्त और कोई उपाय नहीं है। हारकर मुझे उनकी बात माननी पड़ी। मैंने पंडित रामचंद्र शुक्ल को काशी से बुलाया। एक छुट्टी के दिन हम लोग भाषण लिखने के लिये बैठे। बाबू पुत्तनलाल विद्यार्थी मेरे पास बैठे और प्रत्येक प्रश्न पर अपनी सम्मति देते जाते थे और मैं भाषण लिख-लिखकर पंडित रामचंद्र शुक्ल को देता जाता था और वे उसे दोहराकर एक क्लार्क

को देते जाते थे जो उसकी साफ नकल करता जाता था। इस प्रकार यह भाषण दो-तीन दिन में तैयार हुआ और सम्मेलन में जाकर दिया गया। एक महाशय ने इस भाषण पर यह कहा कि यह भाषण पहले से लिखा रखा था, कहीं इतने थोड़े समय में ऐसा भाषण लिखा जा सकता है। उन्हें क्या ज्ञात था कि यह किस परिस्थिति में लिखा गया। यहाँ से सम्मेलन पटने गया और पटने से जबलपुर। जबलपुर-सम्मेलन के सभापति मेरे संस्कृत के शिक्षक पंडित रामावतार शर्मा पांडेय थे। वे सम्मेलन समाप्त होने के पहले ही चले गए। बीच-बीच में भी वे संध्योपासन आदि के लिये सम्मेलन से उठ जाते थे। इन अवस्थाओं में मुझे उनका प्रतिनिधित्व करना पड़ता था। सम्मेलन में मेरे दो भाषण बड़े प्रभावशाली हुए। पहला तो सम्मेलन के लिये धन बटोरने की अपील करते हुए हुआ। मुझे खेद है कि बाबू रामचंद्र वर्म्मा ने इसे नहीं लिखा यद्यपि वे वहाँ उपस्थित थे। सम्मेलन का बड़ा पंडाल प्रतिनिधियों और दर्शकों से खचाखच भरा था। कहीं खड़े होने तक की जगह न थी। बड़ा हल्ला मच रहा था। मेरे भाषण आरंभ करने के साथ ही वहाँ पूर्ण शांति छा गई। हम लोगों का डेरा पास ही था। उस समय बाबू रामचंद्र वर्म्मा आदि डेरे पर चले गए थे। मेरे भाषण देते ही वे लौट आए। पीछे से बाबू रामचंद्र वर्म्मा ने कहा कि हम लोगों ने डेरे पर आपकी आवाज पहचानी और यह जाना कि आप बोल रहे हैं। बस हम लोग पंडाल में चले आए। जबलपुर-सम्मेलन की रिपोर्ट में इस भाषण का संक्षेप अग्रलिखित प्रकार दिया है—

"हमारा यह सम्मेलन अभी सात वर्ष का बालक है। यदि आप जानना चाहें कि सम्मेलन ने इस छोटी-सी अवस्था में कौन-कौन से कार्य किए हैं तो आपको विदित होगा कि जितना कार्य इस थोड़े समय में इस संस्था ने कर दिखाया है उतना कार्य कर दिखाना किसी दूसरी संस्था के लिये कठिन ही नहीं वरन् असंभव है। सम्मेलन हमारी बिखरी हुई शक्तियों को एक स्थान में एकत्र करता है। आज दिन हिंदी-प्रेमियों का अभाव नहीं है। जो सहायता आजकल प्राप्त होती है वह पहले नहीं होती थी। जिस प्रकार छोटी-छोटी नदियों और नालों का जल एकत्र होकर एक सुदीर्घकाय नदी का रूप धारण करता है, बिखरी हुई किरणें एकत्र होकर जिस प्रकार प्रकाश फैलाती हैं, उसी प्रकार इस संस्था के लिये साधनों की आवश्यकता है। एक सूत्र में बाँधने के लिये कई शक्तियों की आवश्यकता है। एकता, धर्म, स्वराज्य आदि बंधन पारस्परिक प्रेम का प्रादुर्भाव कर सकते हैं। यूरोपीय देशों में उसके लिये जो साधन हैं वे हमें प्राप्त नहीं हैं। एक भाषा ही ऐसा साधन है जिसके द्वारा सब लोग प्रेमबंधन में बँध सकते हैं। इसलिये यह आवश्यक है कि मातृभाषा के लिये हृदय में भक्ति हो। भारतवर्ष में एक भाषा की क्या आवश्यकता है? इस संबंध में बहुत कुछ कहा जा सकता है। अतः इस स्थान पर और अधिक कहने की आवश्यकता नहीं जान पड़ती। हजार विरोध होने पर भी हिंदी अभी जीवित है। यह उसकी उपयुक्तता का द्योतक है। महाराष्ट्र, बंगाली, गुजराती आदि अपनी अपनी भाषाएँ आनंद से पढ़ें, अन्यथा वे अपने कर्त्तव्य से

च्युत होंगे। किंतु साथ ही एक सार्वदेशिक भाषा के स्थान में हिंदी का ही व्यवहार करें और इसी व्यवहार को सुचारु रूप से पूर्ण करने के लिये हिंदी भाषा सीखें। २३-२४ वर्ष पूर्व विद्यार्थी-जीवन में हिंदी का नाम लेने-मात्र से उपहास होता था। आज हम सब इस स्थान में एकत्र होकर उसके प्रति स्नेह प्रकट करते हैं। अस्तु, अब मैं मूल विषय की ओर आता हूँ। हिंदी का प्रचार क्यों हो? इस प्रश्न का उत्तर यही है कि वह ऐसी सरल, सुलभ और सुबोध है कि प्रायः सभी प्रांतों के लोग थोड़े प्रयास से उसे सीख सकते हैं। मद्रासी महाशय अँगरेजी में न बोलकर हिंदी में बोल सकते हैं। चाहे वे सुंदर रीति से अपने मनोगत भावों को न प्रकट कर सकें, पर किसी प्रकार उनका आशय सर्वसाधारण पर प्रकट हो ही जाता है। इतना ही नहीं, हिंदी का प्राचीन साहित्य भली भाँति परिपूर्ण है। प्राचीन वैभव मनुष्य को आनंदित करता है। प्राचीन गौरव और महत्त्व के बिना हमारी उन्नति नहीं हो सकती। इस भाषा की लिपि भी जैसी सुंदर, सुवाच्य और सुस्पष्ट है वैसी अन्य किसी भाषा की नहीं।

"हमने अपना उद्देश्य कह सुनाया। मध्य प्रदेशवालों का उत्साह अपूर्व है। यहाँ की आर्थिक शक्ति के विषय में कुछ कहने की आवश्यकता नहीं। उसी शक्ति के प्रभाव से यह सब संभव हो गया है। आप लोग जानते ही हैं कि महायज्ञ के लिये क्या-क्या चाहिए। जब आपने इस सम्मेलन के लिये इतना किया है तब अवश्य ही माता की सहायता करने में आप पीछे न रहेंगे। माता का ऋण सबसे भारी होता है। वास्तव में हमारी तीन माताएँ हैं—एक

जन्मदात्री, दूसरी पालन-पोषण करनेवाली और तीसरी हृदयस्थ भावों को प्रकट करनेवाली अर्थात् भाषा। भाषा का ऋण बहुत भारी है। इसे पूर्ण करने के लिये हृदय उदार होना चाहिए। स्वागत-कारिणी समिति का खर्च छोड़कर इन सात वर्षों में आप लोगों ने २४,०००) दिया है। हमारी कामना है कि हम लोग हिंदी-विश्व-विद्यालय देखें। नगर-नगर में नागरी-पुस्तकालय हों। काशी की नागरी-प्रचारिणी सभा ने इसके लिये कोई पौने दो लाख रुपया २३ वर्षों में जमा किया है। आप सब मिलकर एक वर्ष का कार्य चलाइए, माता को भूल न जाइए। आपकी मातृभाषा अन्य भाषाओं से बुड्ढी है। माता की ममता कम नहीं होती। वह सदा सहायता पहुँचाती है। सुमाता को सुपूतों की आवश्यकता है।"

सम्मेलन को समाप्त करते हुए भी मैंने भाषण किया था, पर रिपोर्ट में उसका सारांश नहीं दिया है।

(६) जून सन् १९१८ में पंडित गौरीशंकर हीराचंद ओझा और पंडित चंद्रधर शर्मा गुलेरी के उद्योग से मुंशी देवीप्रसाद, मुंसिफ जोधपुर, १०,०००) का दान करने के लिये उद्यत हुए। यह दान उन्होंने ऐतिहासिक पुस्तकों के प्रकाशित करने के लिये काशी-नागरी-प्रचारिणी सभा को दिया। इस दानपत्र को लिखवाने तथा बंबई बंक के ७ हिस्सों का सर्टिफिकेट लेने के लिये मुझे ओझा जी ने अजमेर बुलाया। वहाँ कोई विशेष घटना नहीं हुई। दो-तीन दिन टालमटोल करके मुंशी जी ने दानपत्र लिख दिया और शेयर सर्टिफिकेट दे दिए। ये सब कागज मेरी जेब में थे। मैं डाकगाड़ी

से काशी लौट रहा था। मैं जिस डब्बे में बैठा था उसमें और कोइ नहीं था। कानपुर से आगे बढ़ने पर मुझे शौच जाने की आवश्यकता हुई। मैंने कोट को उतारकर खूँटी पर टाँग दिया। उसमें उस समय भी वे सब कागज थे। फिर कुछ ऐसी प्रेरणा हुई कि उन कागजों को जेब में से निकालकर मैंने संदूक में बंद कर दिया। शौच से जब निकला तो देखता क्या हूँ कि मेरा कोट हवा के तेज झोंके से उड़कर खिड़की की तरफ गया है। जब तक मैं दौड़कर उसे पकड़ने की धुन में आगे बढ़ा तब तक वह बाहर उड़ गया और फिर उसका पता न चला कि कहाँ गया। बड़ी दैवी कृपा थी कि सब कागज संदूक में बंद थे, नहीं तो न जाने कितनी आपत्ति उठानी पड़ती।

(७) अक्टूबर सन् १९१८ में बाबू रामदास गौड़ के प्रस्ताव पर सभा ने एक उपसमिति नियमों को दुहराकर ठीक करने के लिये बनाई। नियम बने और छापकर विचार करने के लिये बाँटे गए। सन् १९१९ के वार्षिक अधिवेशन में और काम में फँसे रहने के कारण मैं उपस्थित न हो सका। मैं उस समय सभा का सभापति था। मेरी अनुपस्थिति में बाबू रामदास गौड़ वार्षिक अधिवेशन के सभापति चुने गए। उन्होंने उस आसन से यह निर्णय दिया कि सभा के नए नियम विचाराधीन हैं। उनके स्वीकार होने पर नया चुनाव हो। और काम तो सब हो गया पर चुनाव स्थगित हो गया। मुझे यह पता चला कि बाबू रामदास गौड़ इस चिंता में हैं कि सभा का अधिकार-सूत्र उनके हाथ में आ जाय और वे उसका संचालन अपनी

इच्छा के अनुसार करें। गर्मी की छुट्टियों में मैं काशी आया तो इस व्यवस्था का पूरा-पूरा ब्योरा मिला। मैंने अपनी नीति स्थिर करके सभापतित्व से त्यागपत्र दे दिया और वह स्वीकृत भी हो गया। बात यह थी कि यदि मैं सभापति बना रहता तो जो विशेष अधिवेशन नियमों पर विचार करने के लिये होनेवाला था उसमें मुझे वह आसन ग्रहण करना पड़ता और तटस्थ रहकर कार्य-संचालन करना पड़ता, पर मैं चाहता था कि इस कार्य में पूरा-पूरा भाग लूँ। अतएव जून मास में तीन दिन तक विचार होता रहा। नियमों का संशोधन हो जाने पर वार्षिक चुनाव के लिये फिर नाम चुने जाने लगे। इसमें गौड़ जी ने बड़ी आपत्ति की। वे अपने दल के लोगों को भरना चाहते थे। अंत में यह निश्चय हुआ कि बाबू भगवानदास दोनों पक्षों की बातों को सुनकर जो सूची बना दें वह मान्य हो। ऐसा ही हुआ। इस सूची में गौड़ जी के पक्ष के लोगों की अधिक संख्या थी। अतएव इस आपत्ति से बचने के लिये मैंने एक दूसरा उपाय निकाला। जब चुनाव होने लगा तब मैंने यह प्रस्ताव किया कि जिन लोगों के यहाँ चंदा बाकी है वे कार्यकर्त्ता या प्रबंध-समिति के सदस्य नियमानुसार नहीं हो सकते। इस पर सूची की जाँच की गई तो विपक्षीदल के लोगों में से अधिकांश लोगों के नाम अलग हो गए और चुनाव हम लोगों के अनुकूल हुआ। मेरी नीति के रहस्य को सभा के सहायक मंत्री बाबू गोपालदास जानते थे और किसी को इसका पता न था। इस नियम के कारण बाबू रामदास गौड़ के पक्ष के लोग न कार्यकर्त्ता हो सके और न प्रबंध-समिति के सदस्य ही।

इस प्रकार यह आपत्ति टली। सभा पर पहली आपत्ति बाबू देवकीनंदन खत्री के मंत्रित्व में आई थी और दूसरी आपत्ति यह थी। ईश्वर ने दोनों आपत्तियों से सभा की रक्षा की और उसका उन्नतिशील मार्ग बहुत वर्षों के लिये निर्विघ्न हो गया।

(८) लखनऊ के प्रवासकाल में मेरी साहित्यिक कृतियाँ ये हैं—

(१) हिंदीकोविदरत्नमाला—दूसरा भाग। यह सन् १९१३ में प्रकाशित हुआ। इसके संबंध में एक घटना उल्लेखनीय है। पंडित महावीरप्रसाद द्विवेदी का जीवन-वृत्तांत मिलने में मुझे बड़ी कठिनाई हुई। वे इस समय मुझसे असंतुष्ट थे। सन् १९०० के लगभग वे काशी आए थे और अपनी बहिन के यहाँ ठहरे थे। मैं उनसे मिलने गया और उन्होंने भी मेरे यहाँ पधारने की कृपा की। फिर दो-एक वर्ष बाद वे काशी आए और मुझे अपने आने की सूचना पहले से दे दी। जिस दिन वे आनेवाले थे उस दिन या उसके एक दिन पहले मुझे काशी के अध्यापकों का प्रतिनिधि होकर एक डेपुटेशन में, जो लेफ्टनेंट गवर्नर से मिलने जा रहा था, लखनऊ जाना पड़ा। मैं इसकी सूचना द्विवेदी जी को न दे सका। वे मेरे यहाँ मेरी अनुपस्थिति म आए और मुझे न पाकर बड़े असंतुष्ट हुए। यहाँ से उनके असंतोष का आरंभ हुआ। फिर हिंदी-वैज्ञानिक कोष तथा हिंदी-पुस्तकों की खोज के संबंध में मतभेद हुआ। मुझे स्मरण आता है कि कलकत्ते के भारतमित्र पत्र में उनका एक लेख छपा था और मैंने भी एक लेख लिखा था। पर इसकी प्रतियाँ इस समय अप्राप्य होने से मैं उनके विषय में कुछ नहीं कह सकता। इस मनोमालिन्य के

बढ़ने का एक कारण नागरी-प्रचारिणी पत्रिका में उनकी "विधवा-विलाप" नामक कविता का न छपना भी था। इस प्रकार मनोमालिन्य बढ़ता गया और अंत में सरस्वती में जो यह वाक्य छपा करता था—"सभा के अनुमोदन से प्रतिष्ठित" उसका अंत हो गया। इस अवस्था में उनका जीवन-चरित्र प्राप्त होना और भी कठिन हो गया। पंडित सूर्यनारायण दीक्षित ने किसी प्रकार द्विवेदी जी से उनकी जीवन-घटनाओं को जानने का सफल उद्योग किया। उनके आधार पर उन्होंने उनका जीवन-चरित लिखकर उनके पास भेज दिया। उन्होंने उसे संशोधित करके दीक्षित जी के पास भेजा। उनसे फिर वह मुझे प्राप्त हुआ। इसमें दो मुख्य वाक्य द्विवेदी जी ने बढ़ाए थे। एक स्थान में यह वाक्य था—"आपकी समालोचनाएँ बहुधा जरा कटु हो जाती हैं," इसको द्विवेदी जी ने इस प्रकार संशोधन किया था—"आपकी समालोचनाएँ जरा तीव्र अधिक हो जाती हैं।"

लेख के अंत में ये वाक्य थे—"ईश्वर आपको नीरोग और चिरंजीव करे। आपसे हिंदी-भाषा का अभी और बहुत कुछ उपकार होने की आशा है।" इनको काटकर द्विवेदी जी ने ये वाक्य लिखे थे—"द्विवेदी जी में कवित्व, समालोचन और ग्रंथ-निर्माण इन तीनों शक्तियों का एकत्र अधिष्ठान है। ये बातें किसी बिरले ही पुरुष में होती हैं।"

अंत में जिस रूप में यह कोविदरत्नमाला में छपी वह उस पुस्तक में देखी जा सकती है।

इस जीवनी के अंत में यह लिखा था कि द्विवेदी जी का स्वभाव

किंचित् उग्र है। जब यह पुस्तक प्राय: समस्त छप गई तब द्विवेदी जी ने इस अंश को देखा। उन्होंने बाबू चिंतामणि घोष से यह आग्रह किया कि यह अंश निकाल दिया जाय। मुझसे पूछा गया। मैंने कहा मुझे कुछ आपत्ति नहीं है। जो कुछ मैंने लिखा है उसकी सत्यता प्रमाणित हो गई। आश्चर्य यह है कि द्विवेदी जी अपने विरुद्ध एक शब्द भी कहीं छपा नहीं देख सकते थे। मिश्रबंधुओं के लेखों का एक संग्रह इंडियन प्रेस में छप रहा था। उसमें एक या दो लेखों में द्विवेदी जी की आलोचना की प्रत्यालोचना थी। इस पर प्रेसवालों से फिर आग्रह किया गया कि ये लेख न छपें। मिश्रबंधुओं ने इस बात को स्वीकार नहीं किया और छपी हुई पुस्तक रद्दी कर दी गई। द्विवेदी जी में आत्माभिमान और क्रोध की मात्रा अधिक थी। कदाचित् जिस ध्येय को उन्होंने अपने सामने रखा था उसमें इन विशेषताओं की आवश्यकता वे समझते हों और यह सोचते हों कि अपनी धाक जमाने के लिये इनका प्रयोग अनिवार्य है। कुछ भी हो। पीछे से द्विवेदी जी के स्वभाव में बड़ा परिवर्तन हो गया। वे नम्रता और शिष्टाचार की साक्षात् मूर्ति हो गए। अभी मैं लखनऊ में ही था कि एक दिन मुझे कुछ विद्यार्थियों ने आकर सूचना दी कि द्विवेदी जी अपने भांजे से मिलने के लिये बोर्डिङ्गहाउस में आए हुए हैं। उनका यह भांजा उस समय कालीचरण हाई स्कूल में पढ़ता था। सुनते ही मैं गया और उन्हें अपने वासस्थान पर लिवा लाया। वहाँ मैंने उनका यथोचित आदर-सत्कार किया। द्विवेदी जी ने प्रसन्न होकर कहा कि हम दोनों में बहुत वैमनस्य रहा। जिंदगी का कोई ठिकाना

नहीं, मैं बुड्ढा हो चला हूँ। जो कुछ मैंने कहा-सुना है उसके लिये तुम मुझे क्षमा करो और मैं भी तुम्हें क्षमा करता हूँ। बस समझौता हो गया और फिर हम दोनों में सद्भाव की स्थापना हो गई।

(२) राजा लक्ष्मणसिंह-लिखित मेघदूत का संस्करण सन् १९२० में इंडियन प्रेस से प्रकाशित हुआ।

(३) दीनदयालगिरिग्रंथावली और

(४) परमालरासो सन् १९२१ में नागरी-प्रचारिणीग्रंथमाला में संपादित होकर प्रकाशित हुए।

(५-७) सरल संग्रह, नूतन संग्रह और अनुलेखमाला नाम की तीन पुस्तकें सन १९१९ में स्कूलों के लिये नवलकिशोर प्रेस में छपीं।

(८) नागरी-प्रचारिणी पत्रिका को वर्तमान नया रूप १९२० में दिया गया। मैं भी इसके संपादकों में था। पहले वर्ष में (१) गोस्वामी तुलसीदास की विनयावली और (२) हस्तलिखित हिंदी-पुस्तकों की खोज-संबंधी मेरे दो लेख पत्रिका में छपे। १३ वर्ष तक पंडित गौरीशंकर हीराचंद ओझा इस पत्रिका के संपादक रहे। लेखों का संग्रह आदि करना और उन्हें काट-छाँटकर ठीक करना उनका काम था और छपाना तथा प्रूफ आदि देखना मेरा काम था। १४वें भाग से मैं इस पत्रिका का संपादक हुआ और १८ भाग तक यह काम करता रहा। १८वें भाग को समाप्त करके मैं इस काम से अलग हुआ। पत्रिका के भिन्न-भिन्न अंकों में मेरे ये लेख छपे :—

(१) रामावत संप्रदाय (१९२४)

(२) आधुनिक हिंदी के आदि आचार्य (१९२६)

(३) भारतीय नाट्यशास्त्र (१९२६)
(४) गोस्वामी तुलसीदास (१९२७-२८)
(५) हिंदी-साहित्य का वीरगाथाकाल (१९२९)
(६) बालकांड का नया जन्म (आलोचना) (१९३१)
(७) चंद्रगुप्त (आलोचना) (१९३२)
(८) देवनागरी और हिंदुस्तानी (१९३७)

इनमें से पाँचवाँ लेख पंडित रामचंद्र शुक्ल के सहयोग से लिखा गया था।

(९) इन सब फुटकर कामों के अतिरिक्त मैंने १९१२ से मनोरंजन पुस्तकमाला नाम की एक पुस्तकमाला का संपादन किया। इसमें एक आकार-प्रकार और मूल्य के १०० ग्रंथ निकालने का आयोजन किया गया। इसके प्रकाशन का भार नागरी-प्रचारिणी सभा ने लिया। यह पुस्तकमाला खूब चली। मेरे संपादकत्व में इसमें निम्नलिखित ५० ग्रंथ प्रकाशित हुए जिनमें कई के कई संस्करण हुए तथा कुछ का दूसरी भाषाओं में भी अनुवाद हुआ है। इस पुस्तकमाला की देखा-देखी अनेक पुस्तकमालाएँ निकलीं और अब तक निकल रही हैं। यह आनंद की बात है कि नागरी-प्रचारिणी सभा अब पुनः इस माला को जीवनदान देने में तत्पर हुई है—

(१) आदर्श जीवन—लेखक, पंडित रामचंद्र शुक्ल (१९१४)
(२) आत्मोद्धार—लेखक, बाबू रामचंद्र वर्मा (१९१४)
(३) गुरु गोविंदसिंह—लेखक, बाबू वेणीप्रसाद (१९१४)

(४) आदर्श हिंदू (भाग १)—लेखक, मेहता लज्जाराम शर्मा (१९१५)

(५) आदर्श हिंदू (भाग २)—लेखक, मेहता लज्जा राम शर्मा (१९१५)

(६) आदर्श हिंदू (भाग ३)—लेखक, मेहता लज्जा राम शर्मा (१९१५)

(७) राणा जंगबहादुर—लेखक, बाबू जगन्मोहन वर्मा (१९१५)

(८) भीष्मपितामह—लेखक, पंडित द्वारकाप्रसाद चतुर्वेदी (१९१५)

(९) जीवन के आनंद—लेखक, पंडित गणपति जानकीराम दूबे, बी० ए० (१९१६)

(१०) भौतिक विज्ञान—लेखक, बाबू संपूर्णानंद बी० एस-सी०, एल० टी० (१९१६)

(११) लाल चीन—लेखक, बाबू ब्रजनंदनसहाय (१९१६)

(१२) कबीर-वचनावली—संग्रहकर्त्ता पंडित अयोध्यासिंह उपाध्याय (१९१६)

(१३) महादेव गोविंद रानाडे—लेखक, पंडित रामनारायण मिश्र, बी० ए० (१९१६)

(१४) बुद्धदेव—लेखक, बाबू जगन्मोहन वर्मा (१९१६)

(१५) मितव्यय—लेखक, बाबू रामचंद्र वर्मा (१९१६)

(१६) सिक्खों का उत्थान और पतन—लेखक, पंडित नंदकुमारदेव शर्मा (१९१६)

(१७) वीरमणि—लेखक, पंडित श्यामबिहारी मिश्र, एम० ए० तथा पंडित शुकदेवबिहारी मिश्र, बी० ए० (१९१७)

(१८) नेपोलियन बोनापार्ट—लेखक, बाबू राधामोहन गोकुल जी (१९१७)

(१९) शासन पद्धति—लेखक, पंडित प्राणनाथ विद्यालंकार (१९१७)

(२०) हिंदुस्तान (भाग १)—लेखक, बाबू दयाचंद्र गोयलीय, बी० ए० (१९१०)

(२१) हिंदुस्तान (भाग २)—लेखक, बाबू दयाचंद्र गोयलीय, बी० ए० (१९१७)

(२२) महर्षि सुकरात—लेखक, बाबू वेणीप्रसाद (१९१७)

(२३) ज्योतिर्विनोद—लेखक, बाबू संपूर्णानंद, बी० एस-सी०, एल० टी० (१९१७)

(२४) आत्मशिक्षण—लेखक, पंडित श्यामबिहारी मिश्र, एम० ए० तथा पंडित शुकदेवबिहारी मिश्र, बी० ए०

(२५) सुंदरसार—संग्रहकर्त्ता, पुरोहित हरिनारायण शर्मा, बी०ए०

(२६) जर्मनी का विकास (भाग १)—लेखक, ठाकुर सूर्यकुमार वर्मा (१९१८)

(२७) जर्मनी का विकास (भाग २)—लेखक, ठाकुर सूर्यकुमार वर्मा (१९१९)

(२८) कृषिकौमुदी—लेखक, बाबू दुर्गाप्रसादसिंह, एल० ए-जी० (१९१९)

(२९) कर्त्तव्यशास्त्र—लेखक, बाबू गुलाबराय एम० ए०, एल-एल० बी० (१९१९)

(३०) मुसलमानी राज्य का इतिहास (भाग १)—लेखक, पंडित मन्नन द्विवेदी, बी० ए० (१९१९)

(३१) मुसलमानी राज्य का इतिहास (भाग २)—लेखक, पंडित मन्नन द्विवेदी, बी० ए० (१९१९)

(३२) रणजीतसिंह—लेखक बाबू वेणीप्रसाद (१९२०)

(३३) विश्व-प्रपंच (भाग १)—लेखक, पंडित रामचंद्र शुक्ल (१९२१)

(३४) विश्व-प्रपंच (भाग २)—लेखक, पंडित रामचंद्र शुक्ल (१९२१)

(३५) अहिल्याबाई—लेखक, पंडित गोविंदराम केशवराम जोशी (१९२१)

(३६) रामचंद्रिका—संकलनकर्ता, लाला भगवानदीन (१९२२)

(३७) ऐतिहासिक कहानियाँ—लेखक, पंडित द्वारकाप्रसाद चतुर्वेदी (१९२२)

(३८) हिंदी-निबंधमाला (भाग १)—संग्रहकर्त्ता श्यामसुंदरदास, बी० ए० (१९२२)

(३९) हिंदी-निबंधमाला (भाग २)—संग्रहकर्त्ता श्यामसुंदरदास, बी० ए० (१९२२)

(४०) सूरसुधा—संपादक, पंडित गणेशबिहारी मिश्र, पंडित श्यामबिहारी मिश्र और पंडित शुकदेवबिहारी मिश्र (१९२२)

(४१) कर्त्तव्य—लेखक, बाबू रामचंद्र वर्मा (१९२२)

(४२) संक्षिप्त राम-स्वयंवर--संपादक, श्री बाबू व्रजरत्नदास बी० ए०, एल-एल० बी० (१९२३)

(४३) शिशु-पालन—लेखक, डाक्टर मुकुंदस्वरूप वर्मा (१९२५)

(४४) शाही दृश्य—लेखक, बाबू मक्खनलाल गुप्त (१९२६)

(४५) पुरुपार्थ—लेखक, बाबू जगन्मोहन वर्मा (१९२६)

(४६) तर्क-शास्त्र (भाग १)—लेखक, बाबू गुलाबराय, एम० ए०, एल-एल० बी० (१९२६)

(४७) तर्क-शास्त्र (भाग २)—लेखक, बाबू गुलाबराय, एम० ए०, एल-एल० बी० (१९२७)

(४८) तर्क-शास्त्र (भाग ३)—लेखक, बाबू गुलाबराय, एम० ए०, एल-एल० बी० (१९२७)

(४९) प्राचीन आर्य-वीरता—लेखक, पंडित द्वारकाप्रसाद चतुर्वेदी (१९२७)

(५०) रोम का इतिहास—लेखक, पंडित प्राणनाथ विद्यालंकार (१९२८)

(११)

काशी-विश्वविद्यालय

सन् १९०५ में जब बनारस में कांग्रेस का वार्षिक अधिवेशन हुआ था, पंडित मदनमोहन मालवीय जी ने टाउनहाल में व्याख्यान देकर अपने उस प्रस्ताव की विशद रूप से व्याख्या की थी जिसके अनुसार वे एक ऐसे विश्वविद्यालय की स्थापना करना चाहते थे, जो

भारतीय संस्कृति की रक्षा करता हुआ देश में सब शास्त्रों के अध्ययन-अध्यापन का एक विशिष्ट केंद्र हो। उस समय तो लोगों ने यही कहा था कि यह मालवीय जी का स्वप्न है जो कभी प्रत्यक्ष भौतिक रूप धारण नहीं कर सकता। कल्पना जब तीव्र होकर मूर्तिवत् प्रतीत होने लगती है तभी संसार में बड़े-बड़े महत्त्वपूर्ण कामों का सूत्रपात होता है। यद्यपि उस समय मालवीय जी की कल्पना स्वप्नवत् ही प्रतीत होती थी, पर १० वर्षों के अनवरत परिश्रम, अदम्य उत्साह और दृढ़ विश्वास ने इस स्वप्न को, प्रत्यक्ष कर दिखाया। इन दस वर्षों में उनकी आयोजना में भारतवर्ष और विशेषकर संयुक्त-प्रदेश में उत्साह की एक ऐसी लहर बह चली कि सब विघ्न-बाधाएँ उसके सामने विलीन हो गईं और सन् १९१६ में काशी में हिंदू-विश्वविद्यालय की स्थापना हो गई। मालवीय जी के उद्योग और उत्साह की जितनी प्रशंसा की जाय, थोड़ी है। यद्यपि इसके पहले सेठ जमशेद जी नौशेरवाँ जी ताता ने तीस लाख रुपये का दान देकर बंगलूर में ताता इंस्टीट्यूट की स्थापना का सूत्रपात किया था पर हिंदू-विश्वविद्यालय की योजना के सामने वह कुछ भी नहीं है। इतना अधिक धन किसी सार्वजनिक संस्था के लिये अब तक इकट्ठा नहीं हुआ था और न भारतवर्ष के किसी और विश्वविद्यालय में शिक्षा के इतने विभागों का आयोजन ही हुआ था जितना इस विश्वविद्यालय में हुआ। विश्वविद्यालय ने जितनी उन्नति की है उस सबका श्रेय मालवीय जी को है, यद्यपि उनके सहायकों और सहयोगियों की भी संख्या कम नहीं है। समय-समय पर विश्वविद्यालय को जो ऋण लेकर काम चलाना और बढ़ाना पड़ा

है उसके लिये भी मालवीय जी का उत्साह ही उत्तरदायी है। कुछ लोगों का कहना है कि सर सुंदरलाल यदि कुछ दिन अधिक जीते रहते तो इसको ऋणग्रस्त न होना पड़ता। यह बात ठीक हो सकती है पर साथ ही यह भी संभव है कि उसकी उन्नति भी इतनी अधिक और इतनी शीघ्र न हो सकती। यहाँ पर कदाचित् यह कह देना भी अनुचित न होगा कि मालवीय जी ने जितने बड़े-बड़े कामों को अपने हाथ में लिया—जैसे अदालतों में नागरी का प्रचार, हिंदू बोर्डिंग हाउस, मिंटो पार्क आदि—उनमें हिंदू-विश्वविद्यालय ही को ऐसा सौभाग्य प्राप्त हुआ कि वह इनके हाथों पूरा हो सका, बाकी सब अधूरे ही रह गए। मालवीय जी से मेरा पहला परिचय सन् १८९४ में हुआ था जब मैं काशी-नागरी-प्रचारिणी सभा के पहले डेपुटेशन में बाबू कार्तिकप्रसाद और बाबू माताप्रसाद के साथ प्रयाग गया था। उस समय तो मैं केवल १९ वर्ष का एक युवा विद्यार्थी था। आगे चलकर उनसे मेरी घनिष्ठता बढ़ती गई और अंत में मुझे उनके विश्वविद्यालय में सेवा करने का भी सौभाग्य प्राप्त हुआ। इन अवस्थाओं में मुझे उनके गुणों तथा त्रुटियों से विशेष-रूप से परिचित होने का अवसर प्राप्त हुआ। मैं इन बातों का कुछ उल्लेख यथास्थान इस प्रकरण में करूँगा।

विश्वविद्यालय की स्थापना के अनंतर यह निश्चय हुआ कि एफ० ए० और बी० ए० की परीक्षा में प्रत्येक विद्यार्थी के लिये देशी भाषा में एक लेख लिखकर पास करना अनिवार्य होगा। इस पर हिंदी के लिये अध्यापकों की खोज होने लगी तो मालवीय जी ने पंडित रामचंद्र

शुक्ल और लाला भगवानदीन को चुना। इन दिनों गर्मी की छुट्टियों में मैं काशी आया हुआ था। शुक्ल जी मुझसे मिले और कहने लगे कि सर्टिफिकेट दे दीजिए तो हम लोगों की नियुक्ति हो जाय। मैंने कहा सर्टिफिकेट तो ले लीजिए, पर वेतन का ध्यान रखिए। यदि कम वेतन पर कार्य करना स्वीकार करेंगे तो आगे चलकर हिंदी-विभाग को बड़ी कठिनाइयों का सामना करना पड़ेगा। पर उन्हें उस समय यह चिंता व्यग्र कर रही थी कि शब्दसागर का कार्य समाप्त हो जाने पर हम क्या करेंगे। अस्तु, मेरी सम्मति की उन्होंने उपेक्षा की और ६०) मासिक पर कार्य करना स्वीकार कर लिया।

जैसा कि मैं पहले लिख चुका हूँ, जुलाई सन् १९२१ से मैंने कालीचरण स्कूल की हेडमास्टरी से त्यागपत्र दे दिया और मैं काशी चला आया। यहाँ आने के पहले एक महानुभाव ने मुझे यह वचन दिया था कि तुम घर पर बैठे-बैठे हमारे कार्य का निरीक्षण करना, हम तुम्हें २००) मासिक देंगे। मैंने इसे स्वीकार कर लिया था और जीविका-निर्वाह की व्यवस्था से निश्चिंत हो गया था। पर काशी आ जाने पर उनके ज्येष्ठ पुत्र ने, जो उस समय समस्त कार्य की देख-भाल करने लगे थे, यह कहा कि यह नहीं हो सकता। तुम्हें हमारे कार्यालय में नित्य आकर काम करना होगा। इसे मैंने स्वीकार नहीं किया। अब मैं बाबू गोविंददास से मिला और उन्हें सब बातें कह सुनाईं। उन्होंने कहा कि तुम चिंता मत करो, मैं व्यवस्था करता हूँ। उन्होंने विश्वविद्यालय में यह प्रस्ताव किया कि हिंदी-साहित्य का अध्ययन युनिवर्सिटी की उच्चतम परीक्षा के लिये एक स्वतंत्र विषय माना

जाय। यह प्रस्ताव स्वीकृत हुआ और हिंदी-विभाग खोलने का आयोजन होने लगा। बाबू गोविंददास ने मुझे मालवीय जी के पास भेजा और उपदेश दिया कि वेतन के लिये न अड़ना। हाँ, पद का ध्यान रखना और युक्ति से काम लेना।

मेरी नियुक्ति आश्विन सन् १९२१ से युनिवर्सिटी में हो गई और हिंदी-विभाग का पूरा-पूरा आयोजन करने का मुझे आदेश हुआ। पीछे से मुझसे पंडित रामचंद्र शुक्ल ने कहा कि मालवीय जी ने मुझे तथा लाला भगवानदीन को बुलाकर पूछा था कि हम श्यामसुंदरदास को हिंदी-विभाग का अध्यक्ष बनाना चाहते हैं, तुम लोगों की क्या सम्मति है। शुक्ल जी ने उत्तर दिया कि हम लोगों को उनके अध्यक्ष होकर आने में कोई आपत्ति नहीं है। जिस दिन मेरी नियुक्ति का निश्चय हुआ उसी दिन संध्या को बाबू ज्ञानेंद्रनाथ वसु ने, जो उस समय युनिवर्सिटी कौंसिल के उपमंत्री थे, मुझे पत्र लिखकर इसकी सूचना दी। अब कार्य का आरंभ हुआ। एफ० ए०, बी० ए० और एम० ए० क्लासों में हिंदी की स्वतंत्र पढ़ाई का आरंभ तो जुलाई सन् १९२२ से ही हो सकता था। इस बीच में इस संबंध का सब कार्य संपन्न किया गया। पाठ्य पुस्तकों का चुनाव हुआ और पढ़ाई का क्रम निश्चित हुआ। इस समय इस विभाग में केवल तीन अध्यापक थे। पर अभी तो केवल फर्स्ट ईयर, थर्ड ईयर और फिफ्थ ईयर में पढ़ाई आरंभ हुई थी, अतएव अधिक अध्यापकों की आवश्यकता भी न थी। पर आगे चलकर इसके लिये बड़ा विकट प्रयत्न करना पड़ा।

पहली कठिनाई, जिसका मुझे सामना करना पड़ा, अध्यापन और

परीक्षा का माध्यम था। युनिवर्सिटी का नियम था कि सब विषयों की पढ़ाई और परीक्षा अँगरेजी भाषा के माध्यम-द्वारा हो। मुझे यह नियम सर्वथा अनुचित जान पड़ता था कि संस्कृत और हिंदी की पढ़ाई और परीक्षा भी अँगरेजी के द्वारा हो। पर यह मेरी शक्ति के बाहर की बात थी कि मैं इसे तोड़ या बदल सकता। मैंने धैर्यपूर्वक इस बात के सुधार का उद्योग आरंभ किया और किसी को इसका आभास न मिलने दिया। पंडित रामचंद्र शुक्ल तो अँगरेजी में पढ़ा सकते थे, पर लाला भगवानदीन ऐसा करने में असमर्थ थे। अतएव हम लोगों ने पढ़ाना हिंदी में आरंभ कर दिया। बीच-बीच में अँगरेजी का प्रयोग करते जाते थे। प्रश्नपत्र अभी अँगरेजी ही में छपते थे। आगे चलकर कोई-कोई पत्र हिंदी में भी छपने लगा। यह कार्य क्रमशः हुआ। एक दिन सेनेट के अधिवेशन में मैंने इस बात को छेड़ा। मैंने कहा कि यह बड़ी अस्वाभाविक बात है कि हिंदी और संस्कृत की पढ़ाई और परीक्षा अँगरेजी में हो। इससे हमारे संस्कृत और हिंदी-साहित्य को जो हानि पहुँचती है वह तो अत्यधिक है, साथ ही विद्यार्थियों को भी भाव समझने और उसे लिखकर स्पष्ट करने में कठिनता होती है। मालवीय जी कह बैठे कि यह अनुचित है। मैंने एक प्रश्नपत्र, जो पंडित केशवप्रसाद मिश्र का बनाया हुआ था, दिखाकर कहा कि देखिए यह हिंदी में कितना सुंदर हुआ है और अँगरेजी में यह कितना भद्दा हो जाता। मालवीय जी ने प्रश्नपत्र लेकर देखा और उसकी प्रशंसा करते हुए कहा कि नहीं हिंदी और संस्कृत के प्रश्नपत्र जहाँ तक संभव हो उन्हीं भाषाओं में हों।

मालवीय जी में भावुकता की मात्रा अधिक थी। भावोन्मेष में आकर वे आगा-पीछा कुछ नहीं सोचते थे और चट कार्य कर बैठते थे। इसमें यदि किसी नियम का भंग होता हो तो उसकी उन्हें चिंता न थी। कदाचित् उनकी यह धारणा थी कि नियम कार्य की व्यवस्था ठीक करने के लिये हैं, न कि उसमें बाधा डालने के लिये। अब तो हम लोग खुलकर हिंदी के माध्यम से पढ़ाने और परीक्षा लेने लगे। अंत में जाकर यह भी निश्चय हो गया कि डाक्टरी की डिग्री के लिये भी संस्कृत और हिंदी से संबंध रखनेवाले निबंध हिंदी या संस्कृत में लिखे जा सकते हैं। इस विषय पर किंचित् विस्तार से लिखने की आवश्यकता इसलिये हुई कि आजकल शिक्षा के माध्यम का प्रश्न बड़े जोरों में उठा हुआ है। कुछ परीक्षाओं में मातृभाषा माध्यम मान ली गई है, औरों का विषय विचाराधीन है। पर इस माध्यम के प्रश्न में जो हिंदुस्तानी का पुछल्ला जोड़ दिया गया है उससे हिंदी को विशेष हानि की आशंका है तथा उच्च शिक्षा तो हिंदुस्तानी-द्वारा हो ही नहीं सकती। एक संकर भाषा की रचना करने का व्यर्थ उद्योग करके हिंदी की उन्नति के मार्ग में काँटे बोना बुद्धिमत्ता नहीं कही जा सकती।

दूसरी कठिनाई, जिसका हम लोगों को सामना करना पड़ा, उपयुक्त पुस्तकों का अभाव था। पद्य-साहित्य की पुस्तकें तो अच्छी मात्रा में उपलब्ध थीं पर उनके अच्छे संस्करण दुर्लभ थे। भाषा-विज्ञान, आलोचनाशास्त्र, हिंदी भाषा और हिंदी-साहित्य के इतिहास की पुस्तकों का सर्वथा अभाव था; साहित्य के दो-एक छोटे-मोटे इतिहास जैसे ग्रियर्सन के और ग्रीव्स के उपलब्ध थे, पर उनसे पूरा-

पूरा काम नहीं निकल सकता था। उपयुक्त गद्य-ग्रंथों का एक प्रकार से अभाव ही था। शुक्ल जी ने जायसी, सूर, तुलसी आदि के ग्रंथों के संस्करण तैयार किए और विद्वत्तापूर्ण भूमिकाएँ लिखीं। मैंने भाषा-विज्ञान, आलोचनाशास्त्र, नाट्यशास्त्र आदि पर ग्रंथ लिखे तथा अन्य लोगों को गद्य-ग्रंथों के लिखने के लिये उत्साहित किया और कुछ संग्रह आप भी तैयार किए। अपने रचित ग्रंथों के विषय में मैं यथास्थान विस्तार से लिखूँगा।

तीसरी कठिनाई अध्यापकों की अल्प संख्या थी। इसके लिये कोई उद्योग सफल होता नहीं दिखाई देता था। संयोग से ओरियंटल-विभाग में हिंदी-निबंध की शिक्षा देने का निश्चय हुआ। इसके लिये पंडित अयोध्यासिंह उपाध्याय चुने गए। उन्हें एक दिन युनिवर्सिटी में देखकर मुझे बड़ी प्रसन्नता हुई। मैंने उनसे आग्रह किया कि हमारे विभाग में भी वे कुछ कार्य-भार लें। इसको उन्होंने सहर्ष स्वीकार किया। उपाध्याय जी हिंदी के उत्कृष्ट कवि और सुलेखक हैं। उन्होंने हिंदी-साहित्य को अनेक रत्नों से विभूषित किया है। मुझे उनसे बड़ी आशा थी कि एक योग्य व्यक्ति के मिल जाने से हमारा काम भली भाँति चल सकेगा। पर मुझे उनके अध्यापन-कार्य से असंतोष ही रहा। वे यह नहीं समझ सकते थे कि स्कूल की पढ़ाई और कालेज की पढ़ाई में क्या अंतर है और उसे कैसे निबाहना चाहिए। कई उलट-फेर किए गए पर कहीं भी सफलता न मिली। निबंध पढ़ाने को दिया गया तो पुस्तक पढ़ाने की अपेक्षा हिंदू-संगठन और हिंदुओं के ह्रास पर उनके व्याख्यान होने लगे। अंत में हारकर उन्हें उन्हीं के

रचित ग्रंथ पढ़ाने को दिए गए पर उस काम को भी वे पूरा न कर सके। साल भर में चौथाई पुस्तक भी न पढ़ा सके। मेरी ही भूल थी कि मैं यह समझता था कि एक विद्वान् लेखक अच्छा अध्यापक भी हो सकता है। मालवीय जी को उचित था कि वे स्वयं आकर देखते कि पढ़ाई कैसी होती है तो उनकी आँखें खुल जातीं। पर उन्होंने ऐसा नहीं किया। अस्तु किसी प्रकार काम चलता रहा। जब लड़कियों के लिये अलग कालेज बना तब वे वहाँ हिंदी पढ़ाने के लिये भेजे गए पर मेरे समय तक सप्ताह में दो घंटे की पढ़ाई उनकी आर्ट्स कालेज में चलती रही।

कई वर्षों के अनुभव के अनंतर हम लोगों ने हिंदी के पाठ्यक्रम में परिवर्तन करने की आवश्यकता समझी। यथासमय प्रस्ताव किए गए और वे स्वीकृत हुए। इसमें मुख्य परिवर्तन यह था कि एम० ए० के विद्यार्थी को किसी आकर भाषा (संस्कृत, पाली, प्राकृत या अपभ्रंश) या किसी दूसरी देशी भाषा (बँगला, मराठी, गुजराती, उर्दू) में भी एक प्रश्नपत्र का उत्तर देना पड़ता था। आकर भाषा के पढ़ाने का हमारे विभाग में प्रबंध न था। इसलिये मैंने एक नये व्यक्ति की नियुक्ति का प्रस्ताव किया। प्रस्ताव स्वीकृत हुआ और मैंने पंडित केशवप्रसाद मिश्र के नियुक्त किए जाने की सिफारिश की। पंडित केशवप्रसाद मिश्र हिंदू स्कूल में संस्कृत के अध्यापक थे। मैं इनकी योग्यता पर मुग्ध था। अतएव मैंने इन्हें लेने का भरसक उद्योग किया। अनेक विघ्न उपस्थित हुए पर अंत में केशव जी की नियुक्ति हो गई। केशव जी बड़े सज्जन और सरल चित्त के व्यक्ति हैं, पूरे-

पूरे विद्याव्यसनी हैं, पर इनकी रुचि जितनी पढ़ने में है उतनी लिखने में नहीं। एक इन्हीं के आगे मुझे हार माननी पड़ी है। अनेक बेर इन्हें कुछ लिखने के लिये मैंने उत्साहित किया और कभी-कभी आग्रह भी किया, पर मेरे सब प्रयत्न निष्फल गए। कदाचित् इनमें आत्मविश्वास की कमी है। ये सदा सोचते हैं कि और पढ़ लें और ज्ञान प्राप्त कर लें तब लिखें। इसी कारण केवल मेघदूत के अनुवाद और कुछ लेखों के अतिरिक्त वे कोई साहित्यिक रचना न कर सके। इनमें एक बड़ी त्रुटि है। ये इतने सरल हैं कि कोई भी होशियार आदमी इन्हें धोखा दे सकता है। मनुष्यों की परख इन्हें प्रायः बिलकुल नहीं है। यदि साक्षात् प्रमाणों के मिल जाने पर भी ये किसी को निकृष्ट समझ लेते हैं तो भी सहृदयता और सज्जनता के मारे उससे संबंध नहीं तोड़ते, वरन् कभी-कभी तो उसके विपरीत भाव का मन से विरोध करते हुए भी साधारणतः उसका साथ देते हैं। उनका यह सिद्धांत जान पड़ता है कि जिसका एक बेर हाथ पकड़ लिया उसे, अनेक दोष रहने पर भी, छोड़ना मनुष्यता नहीं है। पढ़ाने-लिखाने में तो वे पटु हैं, पर और कामों में कुछ ढीले-ढाले-से हैं। इनके कारण मुझे दो-एक ऐसे व्यक्तियों से काम पड़ गया जिन्होंने मुझे बहुत दुःख दिया, पर यह उनका नहीं, उनके मनुष्य को न समझ सकने का दोष है।

लाला भगवानदीन के स्वर्गवासी होने पर किसी को नियुक्त करने का प्रश्न उपस्थित हुआ। मैंने डाक्टर पीतांबरदत्त बड़थ्वाल के नियुक्त होने का प्रस्ताव किया पर इसका विरोध एक दूसरे प्रभावशाली

अधिकारी ने किया इस बेर इंजीनियरिंग कालेज के प्रिंसपल मिस्टर किंग ने सहायता की और बड़थ्वाल की नियुक्ति हुई। पीछे एक और व्यक्ति के बढ़ाने का आयोजन हुआ। दो विद्यार्थियों में से चुनाव होनेवाला था—एक थे नंददुलारे वाजपेयी और दूसरे थे जगन्नाथ-प्रसाद शर्म्मा। मैं वाजपेयी जी को हृदय से चाहता था पर मालवीय जी ने यह कहकर जगन्नाथप्रसाद को नियुक्त किया कि वह देश के लिये जेल हो आया है।

आगे चलकर वेतन का प्रश्न उठा। सब अध्यापकों को बहुत कम वेतन मिलता था। किसी को १००) मासिक से अधिक नहीं मिलता था। केवल मुझे २५०) मिलते थे। इस अन्याय को हटाने के लिये बहुत दिनों तक प्रयत्न करना पड़ा, तब कहीं जाकर वेतन बढ़ा। सहायक अध्यापकों का वेतन १००)-१०)-१५०) हुआ। मेरे साथ तो विशेष कृपा हुई। जब इस वेतन के प्रश्न ने उत्कट प्रयत्न का रूप धारण किया तब मेरा ग्रेड १५०)-१०)-३००) हुआ। युनिवर्सिटी के किसी प्रोफेसर को यह वेतन नहीं मिलता है। केवल असिस्टेंट प्रोफेसरों का यह ग्रेड है। मैं प्रोफेसर था और मेरे भली भाँति कार्य चलाने का उपहार यह मिला कि पद प्रोफेसर का रखकर ग्रेड असिस्टेंट प्रोफेसर का दिया गया। मैंने इसे स्वीकार नहीं किया। अंत में जाकर ४००) वेतन मुझे दिया जाने लगा और इसके लिये मैं ध्रुव जी का अनुगृहीत हूँ कि उन्होंने बड़े जोरों से मेरे पक्ष का समर्थन किया था। मुझे यह सब अनुभव करके कभी-कभी यह संदेह हो जाता था कि मालवीय जी में हिंदी के प्रति वास्तविक प्रेम है या नहीं। जहाँ

कहीं विद्यालय के विषय में वे व्याख्यान देते वहाँ हिंदी और संस्कृत-विभागों की जी खोलकर प्रशंसा करते पर स्वयं हिंदी-विभाग के प्रति उपेक्षा का भाव रखते। उनके एक अंतरंग पारिपार्श्विक ने एक बेर मुझे सलाह दी कि समाचारपत्रों में मैं इसका आंदोलन करूँ। मैं इनकी चाल समझ गया। मैंने उत्तर दिया कि जब समय आवेगा तब देखा जायगा। मैं अब तक मालवीय जी के इस उपेक्षाभाव को नहीं समझ सका हूँ। कदाचित् 'अतिपरिचयादवज्ञा' ही इसका कारण हो।

जब तक मैं विद्यालय में काम करता रहा, मुझे निरंतर कठिनाइयों का सामना करना पड़ता था। दो-एक घटनाओं का मैं उल्लेख करता हूँ।

एक समय पंडित रामचंद्र शुक्ल ने अलवर में नौकरी करने के लिये एक वर्ष की छुट्टी ली। उनके स्थान पर किसी की नियुक्ति आवश्यक थी। मैंने कहा कि एक वर्ष के लिये किसी को चुन लीजिए। मुझे आदेश मिला कि तुम अपने किसी अच्छे विद्यार्थी से काम लो। मालवीय जी के आने पर उसकी नियुक्ति हो जायगी। इस पर मैंने सत्यजीवन वर्म्मा को कार्य का भार दिया। कुछ महीनों तक उसने काम भी किया, पर मालवीय जी ने आकर यह निश्चय किया कि नहीं, कोई नई नियुक्ति न होगी। विभाग के लोग आपस में काम बाँट लें। बेचारे सत्यजीवन को अलग होना पड़ा।

एक बेर मैंने यह सोचा कि एम० ए० के विद्यार्थियों को भाषाविज्ञान पढ़ाने के लिये एक ऐसा नकशा बनवाया जाय जिसमें

भिन्न-भिन्न भारतीय देश-भाषाओं की भौगोलिक सीमाएँ भिन्न-भिन्न रंगों में दिखलाई जायँ। नकशा तो मैंने उस धन में से मँगवा लिया जो मुझे पुस्तकें खरीदने के लिये स्वीकृत था, पर रँगवाने के लिये मैंने १५) माँगे। वे मुझे न मिले।

युनिवर्सिटी के मित्रों में मेरे सबसे अधिक प्रिय, अंतरंग और विश्वासपात्र पंडित इंद्रदेव तिवाड़ी थे। उनसे मेरी खूब पटती थी। वे मेरी कठिनाइयों को सुलझाने में सदा सहायता देते थे। ऐसे मित्रों का मिलना कठिन है। मेरे सौभाग्य से मेरे जीवन में एक यही ऐसे मित्र मिले थे जो सब अवस्थाओं में अपने धर्म का पूर्णतया पालन करते थे। लू लग जाने से इनका देहांत हो गया। इनकी स्मृति अभी तक मुझे कभी-कभी विह्वल कर देती है। जब ये रजिस्ट्रार हुए तो उसी दिन रात को आकर मुझे सूचना दी और अपने सपक्ष तथा विपक्षों की बातें सुनाईं। वे अपनी गुप्त से गुप्त बात मुझसे कह देते थे। इनकी रजिस्ट्रारी में मैं तीन बेर युनिवर्सिटी-परीक्षाओं का परिणाम तैयार (Tabulator) करने के लिये नियुक्त हुआ। एक बेर मैंने सिंडिकेट में यह बात कही कि इसके लिये जो पुरस्कार मिलता है वह बहुत थोड़ा है। इस पर कहा गया कि आदमी दूने कर दो। वैसा ही हुआ और २००) वार्षिक का खर्च बढ़ गया। कैसी विचित्र बात है कि उसी काम के लिये पहले धन की कमी थी, पर तुरत ही उसी काम के लिये दो और व्यक्तियों का पुरस्कार देने को धन मिल गया। उस वर्ष की बात स्मरण आती है जिस वर्ष पीतांबरदत्त को डाक्टर की उपाधि मिलनेवाली थी। इस अवसर पर कई महानुभावों

को आनरेरी डिग्री देने का उपक्रम किया गया था। युनिवर्सिटी का यह नियम है कि किसी विभाग का कोई विद्यार्थी जो उपाधि पाने के योग्य समझा जाय उसे कानवोकेशन में उपस्थित करने का अधिकार उस व्यक्ति को होगा जो उस विभाग का अध्यक्ष तथा सेनेट का सदस्य होगा। इस नियम के अनुसार मुझे पीतांबरदत्त को उपस्थित करने का अधिकार था, पर उस वर्ष में आचार्य ध्रुव जी के लिये उपस्थित करने को कोई विद्यार्थी न था। अतएव वाइसचैंसलर महोदय ने निश्चय किया कि पीतांबरदत्त को ध्रुव जी ही उपस्थित करें। यह बात मुझे बहुत बुरी लगी पर मैं चुप रह गया। एक समय मैंने सेनेट में कुछ प्रस्ताव फैकल्टी के नियमों में संशोधन करने के लिये किए। इन नियमों का संबंध कोर्ट से भी था। अतएव मैंने सूचना दी कि मैं इन प्रस्तावों को कोर्ट में भी उपस्थित करूँगा। मैं उस समय कोर्ट का भी सदस्य था। असिस्टेंट सेक्रेटरी साहब ने, जो बहुत दिनों तक संयुक्त-प्रदेश की दीवानी कचहरी के एक उच्च पद पर रह चुके थे, फतवा निकाला कि मेरी अवधि अब पूरी होनी चाहती थी अतएव मैं कोई प्रस्ताव नहीं उपस्थित कर सकता। मैंने पूछा कि आपको यह कैसे ज्ञात हुआ कि मैं फिर कोर्ट का सदस्य न चुना जाऊँगा। इसका कोई उत्तर न था, पर एक बेर जो जज साहब का फैसला हो गया तो उसकी अपील कहाँ हो सकती थी? जब सेनेट में मैंने प्रस्ताव उपस्थित किया तब मालवीय जी ने कहा कि इसका संबंध कोर्ट से भी है, अतएव यह वहाँ भी उपस्थित होना चाहिए। मैंने जज साहब के फैसले की बात कह सुनाई तब उन्होंने

कहा कि यह उनकी गलती थी। परिणाम यह हुआ कि काम एक वर्ष के लिये रुक गया। इस प्रकार की धाँधली प्रायः युनिवर्सिटी में हुआ करती थी।

युनिवर्सिटी में काम करते हुए मुझे अनेक प्रकार के विद्यार्थियों से काम पड़ा। कुछ विद्यार्थी तो बड़े सात्त्विक स्वभाव के अत्यंत श्रद्धालु तथा विद्याव्यसनी थे। इनमें मुख्यतः चार नाम मेरे सामने आते हैं—एक पीतांबरदत्त बड़थ्वाल दूसरे नन्ददुलारे वाजपेयी, तीसरे हरिहरनाथ टंडन और चौथे श्रीधरसिंह। इन चारों के स्वभाव में कोई परिवर्तन नहीं हुआ है। वे अब तक मुझे उसी दृष्टि से देखते हैं जिस दृष्टि से वे अपने पठनकाल में देखते थे। इन चारों की मेरे प्रति अत्यंत श्रद्धा और भक्ति है। इनमें स दो ने मेरे सहयोग में कई काम किए हैं, जिनका उल्लेख यथास्थान किया जायगा। मैं इतना और कह देना चाहता हूँ कि इनके प्रति मेरे भाव भी अत्यंत स्नेहमय हैं और मैं यथाशक्ति इनकी सहायता करने से कभी पराङ्मुख भी नहीं हुआ।

अधिकांश विद्यार्थी मुझे ऐसे मिले हैं जो अपने स्वार्थसाधन में कोई बात उठा नहीं रखते थे। इनमें स किसी-किसी को तो मैंने महीनों २०) मासिक अपने पास से दिया और अपने मित्रों से दिलाया, पर इनमें से ऐसे नरपिशाचों से भी मुझे काम पड़ा है जो अपने स्वार्थसाधन करने में मेरा अनिष्ट करने से भी नहीं हिचके। हिंदू-विश्वविद्यालय में ही ऐसे विद्यार्थी हों ऐसी बात नहीं है। मुझे कई बेर मौखिक परीक्षा लेने के लिये आगरा जाना पड़ा है। वहाँ

परीक्षा के बाद प्रायः विद्यार्थी मुझसे मिलने आते। कोई कहता मैं तो गा या कविता कर सकता हूँ, और कुछ नहीं जानता। ऐसे विद्यार्थियों से भी मुझे काम पड़ा है जो ऊपर से तो मुझ पर बड़ी श्रद्धाभक्ति दिखाते पर भीतर से उनका उद्देश्य स्वार्थसाधन-मात्र रहता। एक विद्यार्थी का मुझे स्मरण आता है जो मौखिक परीक्षा देकर बाहर ठहरा रहा। मेरे कार्य समाप्त होने पर डेरे पर चलने के समय वह मेरे साथ हो लिया और कहने लगा कि मुझे आपसे कुछ निवेदन करना है, आज्ञा हो तो कहूँ। उसने कहा कि मैं आपका जीवनचरित लिखना चाहता हूँ। यदि आप सहायता करें तो छुट्टियों में आपके पास काशी आऊँ। मैंने उससे कहा कि मेरे पास जीवनचरित की कोई सामग्री नहीं है जो मैं तुम्हें दिखा या बता सकूँ। मैंने उसकी और परीक्षा करनी चाही। कई वर्षों बाद वह मुझसे काशी में मिला और मेरी जीवनी के नोट्स माँगने लगा। मैंने उसे नोट्स दे दिए। कुछ दिनों के पीछे उसने उन्हें लौटा दिया, पर आज तक वह जीवनी देखने में न आई। वास्तव में बात यह थी कि वह मेरी जीवनी नहीं लिखना चाहता था, उद्देश्य केवल यही था कि मैं अन्य कामों में उसकी सहायता करता रहूँ। यह मैंने किया भी। पर उसके कथनानुसार अस्ताचल में गए हुए सूर्य की कोई पूजा नहीं करता। अतएव अब मुझसे किसी कार्य के निकलने की आशा उसने छोड़ दी और उसके दर्शन भी दुर्लभ हो गए। एक और विद्यार्थी की करनी मुझे स्मरण आ रही है। वह हिंदी और अँगरेजी में एम० ए० पास था तथा मेरे एक अत्यंत प्राचीन मित्र के आश्रय में उनके यहाँ रहता था। जब

जगन्नाथप्रसाद शर्म्मा की नियुक्ति का प्रश्न उठा हुआ था तब उसने भी उसके लिये उद्योग किया। उसके मन में यह भावना उत्पन्न हुई कि यदि वह मेरा विरोध करे और जगह-जगह मेरी निंदा करता फिरे तो मेरे विरोध करने पर भी उसकी नियुक्ति हो जायगी। यह भावना उसके मन में कैसे उत्पन्न हुई अथवा किसके उपदेश से उसने इस मार्ग का अवलंबन किया यह मुझे आज तक ज्ञात नहीं हुआ। मेरे मित्र ने कई बेर मुझसे कहा कि मैंने उसे बहुत डाँटा। पर उनकी डाँट-फटकार का कोई परिणाम न देख पड़ा। मेरे इन मित्र की यशोलिप्सा इतनी बढ़ी हुई है और इसके लिये वे इतना चिंतित रहते हैं कि किसी प्रकार से भी अपनी यशरूपी चादर पर कलंक का एक छींटा भी नहीं लगने देना चाहते। यदि उन्हें कभी कोई आशंका भी हो जाती है तो साम, दाम, दंड, भेद में से जिस नीति को उपयुक्त समझते उसका अनुसरण कर वे अपना अभीष्ट सिद्ध कर लेते हैं। उन्हें कदाचित् यह आशंका थी कि यदि मैं उसको अपने आश्रय से निकाल देता हूँ तो कहीं वह विद्यार्थी मेरे ही पीछे न पड़ जाय और तब स्थिति सँभालना कठिन हो जायगा।

पंडित रामनारायण मिश्र मेरे बहुत पुराने मित्रों में हैं। अनेक अवसरों पर उन्होंने मेरी बड़ी सहायता की है। मैंने भी यथासाध्य उनका हाथ बटाने का उद्योग किया है। सन् १९०५ में जब काशी में सोशल कान्फरेंस हुई थी तब उन्होंने मुझे शिखंडी-रूप में आगे खड़ा करके उस कान्फरेंस का काम चलाया था। गालियाँ

मैंने खाई थीं और सब कार्य-संचालन परोक्षरूप से पंडित जी करते थे। मुझे इस बात का आंतरिक खेद है कि एक बेर मैंने अपने पुत्र के संबंध में उनसे भिक्षा माँगी थी। वे नहीं तो न कर सके, पर एक अन्य व्यक्ति की आड़ में उन्होंने उस प्रस्ताव का विरोध कराया, यद्यपि वहाँ विरोध की आवश्यकता ही न थी। वहाँ पर वे चाहते तो भी मुझे भिक्षा देने में असमर्थ थे। इस स्थिति का उनको पता न था, नहीं तो एक बड़े पुरान मित्र की उपेक्षा करने के दोष से यों ही बच जाते।

अपने जिन शिष्यों से मेरी अधिक घनिष्ठता थी, उनमें हरिहर-नाथ टंडन, श्रीधरसिंह, सत्यजीवन वर्म्मा, रमापति शुक्ल, रमेशदत्त पाठक, कृष्णशंकर शुक्ल, बलराम उपाध्याय, पुरुषोत्तमलाल श्रीवास्तव आदि भी थे। उनकी भक्ति और श्रद्धा पूर्ववत् बनी हुई है। उनसे मेरा परम स्नेह है और वे भूलकर भी आक्षेपयोग्य आचरण नहीं करते।

युनिवर्सिटी की सेवा करते मुझे कई ग्रंथों की रचना करनी पड़ी है जिनका वर्णन इस प्रकार है—

(१) **साहित्यालोचन**—यह ग्रंथ हिंदू-विश्वविद्यालय के एम० ए० क्लास के विद्यार्थियों को पढ़ाने के लिये लिखा गया। एम० ए० क्लास के पाठ्यक्रम में तीन विषय ऐसे रखे गये थे जिनके लिये उपयुक्त पुस्तकें नहीं थीं। ये विषय थे—भारतवर्ष का भाषाविज्ञान, हिंदी भाषा और साहित्य का इतिहास तथा साहित्यिक आलोचना। इन तीनों विषयों के लिये अनेक पुस्तकों के नामों का निर्देश कर दिया

गया था, परंतु आधार-स्वरूप कोई मुख्य ग्रंथ न बताया जा सका। सबसे पहले मैंने साहित्यिक आलोचना का विषय चुना और उसके लिये जिन पुस्तकों का निर्देश किया गया था, उन्हें देखना आरंभ किया। मुझे शीघ्र ही अनुभव हो गया कि इस विषय का भली भाँति अध्ययन करने के लिये यह आवश्यक है कि विद्यार्थियों को पहले आलोचना के तत्त्वों का आरंभिक ज्ञान करा दिया जाय। इसके लिये मैंने सामग्री एकत्र करना आरंभ किया। इधर मैं लिखता जाता था और उधर उसको पढ़ाता जाता था। इससे लाभ यह था कि मुझे साथ ही साथ इस बात का अनुभव होता जाता था कि विद्यार्थियों को विषय के हृदयंगम करने में कहाँ कठिनता होती है और कहाँ अधिक विस्तार या संकोच की अपेक्षा है। इस अनुभव के अनुसार मैं लिखे हुए अंश को सुधारने में भी समर्थ होता था। इस प्रकार यह ग्रंथ क्रमशः प्रस्तुत हो गया। आरंभ में मैं नित्य लिखी हुई कापी पंडित रामचंद्र शुक्ल को देता जाता था कि वे उसे पढ़कर उसके सुधार के लिये आवश्यक परामर्श दें। एक दिन ऐसी घटना हुई कि लिखी हुई समस्त प्रति मुझे न मिली। बीच के कुछ पन्ने गायब थे। मैंने अपने ज्येष्ठ पुत्र को शुक्ल जी के यहाँ इसलिये भेजा कि जाकर देखो वे पन्ने कहीं छूट तो नहीं गए। बहुत खोजने पर कुछ पन्ने तथा कुछ फटे हुए टुकड़े उस चौकी क नीचे से निकले जिस पर बैठकर शुक्ल जी लिखते थे। इस अंश के पूरा करने में मुझे बड़ी कठिनाई हुई। मैंने आगे से उनके पास लिखित पन्ने न भेजे। जब चार अध्याय समाप्त हो गए तब मैंने उन्हें पंडित महावीरप्रसाद द्विवेदी के पास

परामर्श के लिये भेजा। उन्होंने उन्हें देखकर लौटा दिया। उनके परामर्शों से मैंने पूरा लाभ उठाया और उनकी इस कृपा के लिये मैं कृतज्ञ हुआ।

विद्यार्थियों का आग्रह था कि यह ग्रंथ शीघ्र छपवा दिया जाय। एक दिन बाबू रामचंद्र वर्म्मा ने इस ग्रंथ के लिखे हुए अंश को देखा और उसे अपनी ओर से प्रकाशित करने का आग्रह किया। मैंने इस आग्रह को मान लिया और लिखी हुई प्रति उन्हें छापने के लिये दे दी। आगे चलकर इस ग्रंथ को पूरा करने में भी उन्होंने पूरा सहयोग किया। यह ग्रंथ संवत् १९७९ में प्रकाशित हुआ और इसका अच्छा प्रचार भी हुआ। संवत् १९८४ में इसकी दूसरी आवृत्ति छपी। सन् १९२९ में इस ग्रंथ के संबंध में बाबू रामचंद्र वर्म्मा से मेरा मत न मिला। जो शर्तें मैं लगाना चाहता था उनके मानने में उन्होंने आगा-पीछा किया और निश्चित शर्तों का पालन भी बहुत न किया।

पहले मेरा विचार था कि "आलोचना-रहस्य" नामक एक नवीन ग्रंथ लिखूँ, पर मुझे अपना विचार बदलना पड़ा और सन् १९३७ में साहित्यालोचन का नवीन परिवर्द्धित और संशोधित संस्करण इंडियन प्रेस-द्वारा प्रकाशित हुआ। इसकी बहुत कुछ सामग्री आलोचना रहस्य के लिखने के समय से ही संगृहीत कर ली गई थी।

(२) **भाषाविज्ञान**—इसकी रचना तथा प्रकाशन उन्हीं परिस्थितियों में हुआ जिनमें साहित्यालोचन का। मेरा विचार था कि इस ग्रंथ को ज्यों का त्यों रहने दिया जाय और एक नवीन ग्रंथ "भाषारहस्य" के नाम से निकले। इसी उद्देश्य से भाषारहस्य का पहला भाग

पंडित पद्मनारायण आचार्य के सहयोग और सहकारिता में सन् १९३५ में इंडियन प्रेस-द्वारा प्रकाशित हुआ। पर फिर यह विचार बदलना पड़ा और सन् १९३८ में "भाषाविज्ञान" का परिवर्द्धित और संशोधित संस्करण प्रकाशित हुआ।

इस संबंध में एक घटना उल्लेखनीय है। भाषा-विज्ञान के उस अंश का अँगरेजी अनुवाद, जहाँ खड़ी बोली का विकास दिया गया है, डाक्टर ग्रियर्सन की प्रेरणा से Bulletin of the School of Oriental Studies में छपा। यह पहला ही अवसर था जब आधुनिक काल की किसी हिंदी-रचना का अंशानुवाद भी अँगरेजी के एक प्रतिष्ठित पत्र में छपे।

(३) **हिंदी-भाषा का विकास**—यह भाषाविज्ञान के पहले संस्करण के अंतिम अध्याय का अलग पुस्तकाकार रूप था।

(४) **गद्यकुसुमावली** (सन् १९२५)—इस पुस्तक में मेरे चुने हुए लेखों का संग्रह-मात्र है। इसकी प्रस्तावना रायबहादुर डाक्टर हीरालाल की लिखी है। उसमें ये वाक्य मेरे संबंध में लिखे हैं।

"व्यक्तित्व भी कोई वस्तु है, जिसकी मोहर लगने से साख चलने लगती है। हिंदी-साहित्य-क्षेत्र में बाबू श्यामसुंदरदास की छाप लगने से प्रामाणिकता का आभास आपसे आप उपस्थित हो जाता है।"

(५) **भारतेंदु हरिश्चंद्र** (सन् १९२७)—भारतेंदु जी के ग्रंथों के अन्तःसाक्ष्य पर उनकी जीवन-संबंधी घटनाओं का विवेचन इस ग्रंथ में किया गया है। पहले यह भारतेंदुनाटकावली की प्रस्तावना के रूप में छपा। पीछे इसके कई संशोधित संस्करण निकले।

(६) **हिंदी-भाषा और साहित्य**—इसका उल्लेख कोश के प्रकरण में हो चुका है। इसका नवीन संस्करण सन् १९३७ में प्रकाशित हुआ। इस ग्रंथ के प्रथम संस्करण के प्रकाशन पर पंडित महावीरप्रसाद द्विवेदी ने यह श्लोक मुझे लिख भेजा था।

संप्राप्य सुंदरतरं नवपुस्तकं ते
हे श्यामसुंदर मया मुमुदे नितांतम्।
आनंदनिर्भरहृदा विनिवेद्यतेऽद्य
त्वं शारदेंदुविमलं सुयशो लभस्व॥

(७) **रूपकरहस्य** - सन् १९२६ में मैंने भारतीय नाट्यशास्त्र पर एक अधूरा लेख नागरीप्रचारिणी पत्रिका में छपवाया था। इस लेख की सामग्री भी एम० ए० क्लास के विद्यार्थियों के लिये संगृहीत की गई थी। पर पूरा लेख न लिखा जा सका। अंत में पीतांबरदत्त बड़थ्वाल ने यह प्रस्ताव किया कि यदि सब सामग्री मैं उन्हें दे दूँ और अपना परामर्श देता रहूँ तो वे इस विषय को पुस्तकरूप में प्रस्तुत कर दें। ऐसा ही हुआ और सन् १९३१ में वह प्रकाशित हुआ। इसके एक स्थल में मुझे बहुत कठिनाई पड़ी थी। प्रहसन और वीथी के झगड़े में मैं ऐसा उलझ गया कि उससे निपटना कठिन हो गया। कई संस्कृतज्ञ पंडितों से मैंने परामर्श किया, पर कोई भी मेरा संतोष न कर सका। कई दिनों तक माथा-पच्ची करता रहा, तब जाकर मैं निर्णय पर पहुँचा, जिसका उल्लेख पुस्तक में इस प्रकार किया गया,—

दशरूपक में भारती वृत्ति का यह लक्षण लिखा है--

भारती संस्कृतप्रायो वाग्व्यापारो नटाश्रयः।
भेदैः प्ररोचना युक्तैर्वीथीप्रहसनामुखैः ॥

अर्थात् भारती वृत्ति वह है जिसमें वाग्व्यापार या बातचीत संस्कृत में हो, जो नट के आश्रित हो तथा जिसके प्ररोचना के अतिरिक्त वीथी, प्रहसन और आमुख भेद रहते हैं।

साहित्यदर्पण में इसका लक्षण इस प्रकार लिखा है—

भारती संस्कृतप्रायो वाग्व्यापारो नराश्रयः।
तस्याः प्ररोचना वीथी तथा प्रहसनामुखे,
अंगान्यत्रोन्मुखीकारः प्रशंसातः प्ररोचना ॥

भरतमुनि ने अपने नाट्यशास्त्र में भारती वृत्ति का वर्णन इस प्रकार किया है—

या वाकप्रधाना पुरुषप्रयोज्या,
स्त्रीवर्जिता संस्कृतवाक्ययुक्ता।
स्वनामधेयैः भरतैः प्रयुक्ता
सा भारती नाम भवेत्तु वृत्तिः ॥

इन तीनों लक्षणों के मिलाने से यह स्पष्ट हो जाता है कि भारती वृत्ति उस रूपक-रचना-शैली या भाषा-प्रयोग की विशेषता का नाम है जिसे भरत अर्थात् नट लोग प्रयोग में लाते हैं, नटियाँ नहीं; और जिसमें संस्कृत-भाषा के वाक्यों की अधिकता रहती है। धनंजय और साहित्य-दर्पणकार विश्वनाथ की परिभाषा तो प्रायः मिलती-जुलती है, केवल धनंजय का 'नटाश्रयः' विश्वनाथ में आकर 'नराश्रयः' हो गया है। इसके कारण का भी अनुमान किया जा सकता है। ऐसा

प्रतीत होता है कि आरंभ में नट लोग सभासदों को प्रसन्न करने तथा उनके मन को मुग्ध करके नाटक की ओर आकृष्ट करने के लिये मुख्य वस्तु के पूर्व ही इसका प्रयोग करते थे। पीछे से नाटक के और और अंशों में भी इसके प्रयोग का विधान होने लगा जिससे 'नटाश्रयः' के स्थान पर 'नराश्रयः' हो गया। भारती वृत्ति के चार अंगों में से प्ररोचना और आमुख का संबंध स्पष्ट ही पूर्वरंग से है। प्ररोचना प्रस्तुत विषय की प्रशंसा करके लोगों की उत्कंठा बढ़ाने के कृत्य को कहते हैं। पर भारती वृत्ति के संबंध में वीथी और प्रहसन की व्याख्या आचार्यों ने स्पष्ट रूप से नहीं की है। हाँ, वीथी के तेरह अंग अवश्य बताए हैं जिनका संबंध उतना पूर्वरंग से नहीं जितना कि स्वयं रूपक के कथानक से है। प्रहसन और वीथी रूपक के भेदों में भी आए हैं। प्रहसन में एक ही अंक होता है जिसमें हास्यरस प्रधान रहता है। वीथी में भी एक ही अंक होता है, पर प्रधानता शृंगाररस की होती है। दोनों का इतिवृत्त कवि-कल्पित होता है। अनुमान से ऐसा जान पड़ता है कि आरंभ में प्रहसन और वीथी भी प्रस्तावना के अंगमात्र थे। हँसी या मसखरेपन की बातें कहकर अथवा उनके विशेष प्रयोग से युक्त किसी छोटे से कथानक को लेकर तथा शृंगाररस-युक्त और विचित्र उक्ति-प्रत्युक्ति से पूर्ण किसी कल्पित पात्र को लेकर दर्शकों का चित्त प्रसन्न किया जाता था। ऐसा जान पड़ता है कि प्रस्तावना के समय अनेक उपायों से सामाजिकों के चित्त को प्रसन्न करके नाटक देखने की ओर उनकी रुचि को उन्मुख और उत्कंठित करना नटों का विशेष कर्त्तव्य समझा

जाता था। पीछे से प्रहसन और वीथी ने स्वतंत्र रूप धारण कर लिया और वे रूपक के भेद-विशेष माने जाने लगे। अथवा यह भी हो सकता है कि आमुख और प्ररोचना तो नाटक के प्रति आकृष्ट करने के लिये और वीथी तथा प्रहसन मध्य या अंत में सामाजिकों की रुचि को सजीव बनाए रखने के लिये प्रयोग में आते रहे हों। आजकल भी किसी अन्य रस के नाटक के आरंभ, मध्य अथवा अंत में दर्शकों के मनोविनोद के लिये फार्स (जिसके लिये प्रहसन उपयुक्त शब्द है) खेला जाता है। पर धनंजय का यह कथन कि वीथ्यंगों के द्वारा सूत्रधार अर्थ और पात्र का प्रस्ताव करके प्रस्तावना के अंत में चला जाय और तब वस्तु का प्रपंचन आरंभ करे, इस अनुमान के विरुद्ध पड़ता है। इससे तो यही ज्ञात होता है कि संपूर्ण भारतीय वृत्ति का प्रयोग वस्तुप्रपंचन के पूर्व ही होता था। फिर भी वीथी और प्रहसन को अन्य रूपकों के अंश एवं स्वतंत्र रूपक दोनों मानने में कोई आपत्ति नहीं देख पड़ती।

एक मित्र ने इस पुस्तक की समालोचना अपने एक मित्र से करते हुए कहा था कि यह कृति इतनी निकृष्ट नहीं है। इन शब्दों को मैंने अपने कानों से सुना था, पर उन बेचारे को यह पता न था कि उनके पीछे मैं आड़ में खड़ा किसी से बात कर रहा हूँ। अस्तु, उन्होंने इस पुस्तक को औरों की अपेक्षा अच्छा माना यही बड़ी बात है।

इन्हीं दिनों नीचे लिखी पुस्तकें भी प्रकाशित हुईं—

(१) हस्तलिखित हिंदी पुस्तकों का संक्षिप्त विवरण (ना० प्र० सभा १९२३)

(२) अशोक की धर्मलिपियाँ—पहला खंड (ना० प्र० सभा १९२३)। यह पुस्तक पंडित गौरीशंकर हीराचंद ओझा और पंडित चंद्रधर गुलेरी के साथ में तैयार हुई थी। पांडु लिपि मैंने तैयार की थी, उसका संशोधन तथा टिप्पणियाँ इन दोनों महाशयों की लिखी हैं।

(३) रानी केतकी की कहानी (ना० प्र० सभा १९२५)

(४) भारतेंदुनाटकावली (इंडियन प्रेस १९२७)

(५) कबीरग्रंथावली (ना० प्र० सभा १९२८)

(६) राधाकृष्णग्रंथावली भाग १ (इंडियन प्रेस १९३०)। इसका दूसरा भाग अब गंगापुस्तकमाला में छप रहा है।

(७) सतसई-सप्तक (हिंदुस्तानी अकाडमी १९३१)

(८) गोस्वामी तुलसीदास (हिंदुस्तानी अकाडमी १९३१)

(९) बालशब्दसागर (इंडियन प्रेस १९३५)

(१०) हिंदीनिबंधमाला भाग १ और २ (ना० प्र० सभा १९२२)। इसकी कई आवृत्तियाँ छप चुकी हैं और लेखों में उलट-फेर भी हुआ है।

(११) संक्षिप्त पद्मावत (इंडियन प्रेस १९२७)

इन पुस्तकों के अतिरिक्त स्कूलोपयोगी अनेक पुस्तकें प्रकाशित हुई हैं। इनके नाम ये हैं—

(१) नई हिंदी रीडर भाग ६ और ७ (मैकमिलन कंपनी १९२३),

(२) हिंदीसंग्रह भाग १ और २ (इंडियन प्रेस १९२५),

(३) हिंदीकुसुमसंग्रह भाग १ और २ (इंडियन प्रेस १९२५),

(४) हिंदी कुसुमावली भाग १ और २ (इंडियन प्रेस १९२७),

(५) Hindi Prose Selections (इंडियन प्रेस १९२७),

(६) साहित्यसुमन ४ भाग (इंडियन प्रेस १९२८),

(७) गद्यरत्नावली (इंडियन प्रेस १९३१),

(८) साहित्यप्रदीप (इंडियन प्रेस १९३२)

इस काल में मेरे ये लेख भी छपे—

(१) रामावतसंप्रदाय (ना० प्र० पत्रिका १६२४)

(२) आधुनिक हिंदी के आदि आचार्य (ना० प्र० पत्रिका १९२६)

(३) भारतीय नाट्यशास्त्र (ना० प्र० पत्रिका १९२६)

(४) गोस्वामी तुलसीदास (ना० प्र० पत्रिका १९२७, १९२८)

(५) हिंदीसाहित्य का वीरगाथाकाल (ना० प्र० पत्रिका १९२९)

(६) बालकांड का नया जन्म (आलोचना) (ना० प्र० पत्रिका १९३२)

(७) चंद्रगुप्त (आलोचना) (ना० प्र० पत्रिका १९३२)

(८) देवनागरी और हिंदुस्तानी (ना० प्र० पत्रिका १९३७)

(१२)

कुछ व्यक्तिगत बातें

अब मैं कुछ व्यक्तिगत घटनाओं का उल्लेख करता हूँ जो मुझ पर घटित हुईं और जिनके कारण मेरी सांसारिक स्थिति बहुत कुछ परिवर्तित हुई।

(१) सन् १९२५ में मुझे मृत आत्माओं को बुलाने की

अभिरुचि हुई। इस कृत्य में एक दिन अचानक मिस्टर सी० आर० दास की आत्मा आई। उसने मुझे स्वदेशी का पक्ष लेने और अपना स्वास्थ्य सुधारने के लिये किसी पहाड़ पर जाने का उपदेश दिया। उस दिन से स्वदेशी का पक्ष तो मैं यथासाध्य समर्थन करने लगा, पर स्वास्थ्य की चिंता न की, जिसका फल मुझे आज तक भोगना पड़ रहा है। आगे चलकर मुझे यह अनुभव हुआ कि इस कृत्य में बहुत कुछ धोखा हो जाता है। महती आत्माएँ प्रायः पृथ्वी पर नहीं आतीं। नीच आत्माएँ, जिन्होंने इस जन्म में कुकृत्य किये रहते हैं, प्रायः भटकती फिरती हैं और आकर दुःख देती हैं। मुझे प्रेतलीला का अनुभव एक बेर अपने घर में ही हुआ था। मेरी एक भौजाई को उसके पूर्वजों की एक स्त्री ने आ पकड़ा था। उसने भ्रूणहत्या की थी। अतएव उसकी आत्मा को शांति नहीं मिली थी। वह भटकती फिरती थी और जिस संबंधी ने उसे कुमार्ग में लगाया था उसकी संतति से बदला चुकाना चाहती थी। उसका जब आवेश होता तो वह अपना पूर्व इतिहास सुनाती। मेरा लड़का नंदलाल उस समय बहुत छोटा था। वह खेलते-खेलते अपनी चाची के पास चला जाता तो मेरी माता उसे चट खींच लेती। तब वह प्रेत आत्मा कह उठती—मुझे इन बच्चों से द्वेष नहीं है। ये मेरे प्यारे हैं। मुझे तो इस लड़की से बदला लेना है। मैं इसे न छोड़ूँगी। अंत में एक मारवाड़ी ब्राह्मण की कृपा से वह बाधा दूर हुई। कई वर्ष पीछे फिर इसका आक्रमण हुआ और उसी में उसकी मृत्यु हुई। इन सब बातों को सोचकर मैंने इस कृत्य को छोड़ दिया। एक और घटना का स्मरण

है। एक दिन बाल गंगाधर तिलक की आत्मा आई। उन्होंने मुझे आदेश दिया कि भारतीय भाषाओं में से आधुनिक मुख्य-मुख्य भाषाओं और उनके साहित्य का संक्षिप्त इतिहास एक पुस्तक में संग्रह करो। मैंने कई बेर इसको पूर्ण करने का उद्योग किया पर सफलता न पा सका। यहाँ इसका उल्लेख इसलिये कर दिया कि कोई देशभक्त विद्वान् तिलक महोदय के इस आदेश को पूरा करें।

(२) सन् १९२६ के फरवरी मास में मेरे तृतीय पुत्र सोहनलाल का विवाह कलकत्ते के प्रसिद्ध रईस राजा बाबू दामोदरदास वर्मन के चतुर्थ पुत्र बाबू मधुसूदनदास वर्मन की ज्येष्ठा कन्या से हुआ। इस संबंध के स्थिर करने का समस्त श्रेय मेरे ज्येष्ठ पुत्र कन्हैयालाल को है। उसी ने मुझ पर जोर देकर इस संबंध को स्थिर कराया। समधी मिलें तो मधु बाबू जैसे सज्जन मिलें। इनके स्वभाव, आचार, विचार तथा व्यवहार पर मैं मुग्ध हूँ। मेरे प्रति इनका भी व्यवहार सर्वथा श्लाघ्य है।

(३) सन् १९२६ के मार्च मास में मेरे ज्येष्ठ पुत्र कन्हैयालाल का देहांत कलकत्ते में हुआ। उसकी वही पुरानी बीमारी, अँतड़ियों की कालिक, घातक हुई। डाक्टरों ने यह सम्मति दी कि इसकी एक मात्र औषध शल्य-चिकित्सा है। मेडिकल कालेज में इस चिकित्सा के लिये मधु बाबू उसे ले गए। पर चिकित्सा होने के पूर्व ही हृद्गति के रुक जाने से उसका शरीरांत हो गया। यह मेरा सबसे योग्य लड़का था। इस पर मुझे बहुत कुछ भरोसा और आशा थी। इसकी मृत्यु से मुझे बड़ा धक्का लगा, जिसको मैं अब तक न सँभाल सका।

(४) इसी वर्ष के जून मास में मैं नैनीताल गया। बाबू गौरीशंकरप्रसाद और पंडित रामनारायण मिश्र पहले से गए हुए थे, मैं पीछे से गया। वहाँ हम लोग राजा ज्वालाप्रसाद के वासस्थान में ठहरे। हम लोग मिस्टर ए० एच० मेकेंजी से मिले और उनसे सभाभवन को बढ़ाने के लिये गवर्मेंट की सहायता माँगी। दो-तीन बेर मिलना पड़ा। मिस्टर मेकेंजी ने बड़े ध्यान से हम लोगों की बातें सुनीं और उदारतापूर्वक सहायता देने के प्रश्न पर विचार किया। आगे जाकर सभा को २२,००० की सहायता गवर्मेंट से प्राप्त हुई।

(५) सितंबर मास में मुझे ज्वर आया। तीन-चार दिन तक ज्वर का बड़ा वेग रहा। पीछे से मेरे अंडकोश की वृद्धि एक नारियल के बराबर हो गई। कई डाक्टर बुलाए गए। सबने परीक्षा करके यह निदान किया कि इसमें मवाद आ गया है। इसे चीरने के अतिरिक्त और कोई उपाय नहीं है। केवल मेरे पुराने मित्र डाक्टर अमरनाथ बैनर्जी ने चीर-फाड़ करने की सम्मति नहीं दी। उन्होंने कहा कि ये इतने कमजोर हो गए हैं कि नश्तर लगते ही इनके देहांत की आशंका है। उपचार-द्वारा इसका मवाद निकाला जाय। डाक्टर अचलबिहारी सेठ ने, जो मेरे प्राचीन मित्र बाबू कृष्णबलदेव वर्म्मा के भांजे हैं और उस समय के थोड़े दिन पहले डाक्टरी पास करके काशी में बस गए थे, इस भार को अपने ऊपर लिया। वे नित्य दोनों समय आकर मेरी देख-भाल करने लगे। कोई एक महीने के अनंतर यह व्याधि कटी और घाव भर गया। डाक्टर सेठ ने जिस प्रेम से मेरी चिकित्सा की उसके लिये मैं उनका चिर ऋणी हूँ। वे

इसके पीछे भी बराबर मेरी देख-भाल करते रहे। घर पर जो कोई बीमार होता, डाक्टर सेठ ही उसकी चिकित्सा करते। सबेरे जब मैं टहलने जाता तो बिना डाक्टर सेठ से मिले न लौटता। यह प्रेमभाव कोई दस वर्ष तक बना रहा।

इस बीच में मुझे अग्निमांद्य (डिसपेपसिया) का रोग लग गया। इसके दूर करने के अनेक उपाय किए गए। डाक्टर सेठ ने भी कोई बात उठा न रखी। अंत में मैं जगन्नाथपुरी जाकर कोई एक महीना रहा, पर वहाँ भी कोई लाभ न हुआ। फिर कलकत्ते में आकर औषध करने लगा, पहले कुछ लाभ हुआ, पर जुलाई आ जाने से मुझे काशी लौटना पड़ा। कालेज खुलने पर एक दिन उपस्थित होकर फिर मैंने छुट्टी ली और कुछ दिनों के अनंतर कलकत्ते गया। वहाँ कोई दो महीने रहा। बराबर दवा होती रही, पर रोग न हटा। निदान हारकर मैं काशी लौट आया और फिर डाक्टर सेठ की दवा करने लगा। मैंने जितनी दवाइयाँ खाई हैं वे यदि इकट्ठी की जायँ तो दवाखाने की एक अच्छी दूकान सज सकती है। मैंने वैद्यक, होमियोपैथी, वायोकेमिक, सब दवाइयाँ कीं पर कोई भी मेरे रोग को दूर न कर सकी। अब लाचार होकर सब दवाइयाँ छोड़ दी हैं और खान-पान का संयम तथा सबेरे टहलने का नियम कर लिया है। इससे किसी प्रकार शरीर चला चलता है।

मेरी इस लंबी बीमारी में डाक्टर सेठ ने जो मेरा उपचार किया उसके लिये मैं सदा उनका ऋणी रहूँगा। जैसा कि मैं पहले कह चुका हूँ, उनका सदा स्नेहमय भाव रहा। वे मुझे पिता-तुल्य मानते रहे

और मैं भी उन्हें अपना पुत्र मानकर उनसे वैसा ही व्यवहार करता रहा। पर कुछ लोगों को हमारी यह घनिष्ठता पसंद न थी। सेठ जी की स्वर्गवासिनी पत्नी बड़ी धर्मशीला और कोमल स्वभाव की थीं। उनके आगे इन लोगों की कोई कला नहीं चल पाती थी और वे डाक्टर सेठ को चल-विचल नहीं होने देती थीं। उसके देहावसान ने वह स्थिति बदल दी। नित्य के कान फूँकने का असर होने लगा। इस प्रकार कुछ दिन बीते। सहसा २३ दिसंबर १९३६ को डाक्टर सेठ मुझसे रुष्ट हो गए और यह रोष यहाँ तक बढ़ा कि समझाने-बुझाने का कोई प्रभाव न पड़ा। उनकी चाहे जैसी भावना हो, और उनके स्वभाव में चाहे जितना परिवर्तन हो जाय, पर मैं उनको उसी पुरानी भावना से देखता रहूँगा और सदा उनकी भलाई की कामना करता रहूँगा।

बीमारी ने जब भयंकर रूप धारण किया तब सभी लोग बड़े चिंतित और व्यग्र हुए। इसी समय ज्योतिर्भूषण पंडित हरिनारायण भट्टाचार्य से मेरा परिचय हुआ। मेरे लड़के, मेरे भाई मोहनलाल के साथ, उनके यहाँ गए और मेरे स्वास्थ्य के विषय में प्रश्न किया। उन्होंने कहा कि कोई चिंता की बात नहीं है, अच्छे हो जायँगे। उन्होंने यह भी बताया कि अमुक दिन फोड़ा फूटेगा और अमुक दिन सब मवाद निकल जायगा। ठीक ऐसा ही हुआ। अच्छा होने पर मैं फल आदि लेकर उनसे भेंट करने गया। तब से आज तक उनसे प्रेम बना हुआ है और वे पूर्ववत् सौहार्द का बर्त्ताव करते हैं। वे अब कलकत्ते में रहते हैं।

दो अन्य अवसरों पर मुझे भट्टाचार्य जी का चमत्कार देखने का अवसर प्राप्त हुआ। मैंने अपने दोनों पौत्रों—माधवलाल और कृष्णलाल—के यज्ञोपवीत का आयोजन किया। गणेश-पूजन के एक दिन पहले कृष्णलाल को ज्वर आगया। डाक्टर को बुलाकर दिखाया गया तो उन्होंने कहा कि यह सात दिन से पहले नहीं उतरेगा। मैं बड़ी चिंता में पड़ा। अंत में पंडित हरिनारायण जी के पास गया और उनसे कहा कि या तो यज्ञोपवीत की दूसरी सायत निकाल दीजिए या कोई ऐसा उपाय कीजिए जिसमें कृष्णलाल का ज्वर उतर जाय। उन्होंने पत्रा देखकर कहा कि दूसरी सायत तो नहीं बनती। अच्छा, उपाय करता हूँ। उन्होंने मुझे एक यंत्र दिया और कहा कि इसे पहना दो। ईश्वर की कृपा हुई तो ज्वर उतर जायगा और यज्ञोपवीत-संस्कार निर्विघ्न हो जायगा। मैंने लाकर यंत्र पहना दिया। दूसरे दिन सबेरे ज्वर उतर गया और सब संस्कार यथावत् किया गया। किसी प्रकार की विघ्न-बाधा नहीं हुई।

सन् १९३२ के जुलाई मास के अंत में एक दिन कालेज से लौटने पर मुझे गुर्दे का दर्द आरंभ हुआ। दर्द का वेग क्रमशः बढ़ने लगा। डाक्टर बुलाए गए। पहले डाक्टर मुकुंदस्वरूप वर्मा आए। उन्होंने देखकर दवाई का पुर्जा लिखा। पीछे से डाक्टर अचलबिहारी सेठ भी आए। वे कहीं किसी बीमार को देखने गए हुए थे। वे सुनते ही आए। उन्होंने भी दवाई लिखी। इसी बीच मैंने पंडित हरिनारायण जी को कहलाया। वे तुरन्त चले आए। उन्होंने एक यंत्र देकर कहा कि इसे कमर में बाँध लो। यदि आधे घंटे में लाभ न

हो तो यह दूसरा यंत्र, जिसको नीबू के रस में भिगो रखो, बाँध लेना। वे इतना कहकर चले गए और घर पर जाकर कुछ मंत्रोपचार किया। अभी डाक्टरों की दवा आई भी न थी कि मुझे पेशाब लगा और उसके साथ एक पत्थर का टुकड़ा, जो अभी बहुत कड़ा नहीं हुआ था, निकल गया और दर्द दूर हो गया।

इन तीन घटनाओं का मुझे अच्छी तरह स्मरण है, इससे इनका उल्लेख कर दिया। यों तो नित्य ही उनका समागम होता रहा। प्राय: प्रतिसोम और बृहस्पतिवार को वे मेरे यहाँ संध्या-समय आते और देर तक वार्तालाप होता रहता। जब वे कलकत्ते जाकर वहीं बस गए तब यह बंद हो गया।

(६) मैं पहले अपने सबसे छोटे सहोदर मोहनलाल के संबंध में लिख चुका हूँ। इसे मैं अपने साथ कश्मीर ले गया। लाहौर के डी० ए० वी० स्कूल में भरती कराया, पर कुछ लोगों की कृपा तथा दुर्व्यवहार से उसका मन पढ़ने-लिखने में न लगा और कुसंगति में पड़ जाने से वह उच्छृंखल हो गया। इधर मेरे भाई रामकृष्ण का देहांत सन् १९०८ में हो गया था। इसका विवाह भारतजीवन प्रेस के स्वामी बाबू रामकृष्ण वर्मा की पुत्री से हुआ था। बाबू रामकृष्ण वर्मा की मृत्यु के उपरांत मोहनलाल का वहाँ आना-जाना बढ़न लगा। १९०८ के उपरांत वह वहीं जाकर रहा। बाबू रामकृष्ण वर्मा लाखों रुपए की संपत्ति छोड़ गए थे और उनका उत्तराधिकारी उनके भतीजे के अतिरिक्त और कोई न था। उससे बाबू रामकृष्ण वर्मा की स्त्री और पुत्री से न बनी। इस अनबन के कारण मोहनलाल भी

अंशतः थे। उस भतीजे का भी कुछ समय उपरांत देहांत हो गया। अब दोनों हाथों से धन उड़ने लगा। सिर पर किसी प्रकार का अंकुश न होने से खूब मनमानी होने लगी। अंत में जाकर सारा धन फुँक गया, मकान बिक गया और प्रेस का सब सामान भी निकल गया। खोटी आदतें पहले ही से पड़ गई थीं। अब धन न रहने से तरह-तरह के उपायों से उसे प्राप्त करने का उद्योग किया गया। यह भी जब फुँक गया और सिर पर ऋण का बोझ बढ़ा, तब सब तरफ से हारकर मुझे चूसने का आयोजन किया गया। मैं सदा इनकी सहायता करता रहा, पर मुझ पर ही इनके आक्रमण विशेष रूप से हुए। सन् १९२८ में बाबू रामकृष्ण वर्मा की पुत्री ने मुझ पर तथा मेरे अन्य भाइयों पर भरण-पोषण के लिये दावा किया। इस संबंध में अनेक बातें कही गई हैं जिनके लिये कोई प्रमाण या मूलाधार न था। मेरी पुस्तकों की आय का हिस्सा माँगा गया, मेरे भाई के मकान पर दावा किया गया। अंत में दूध का दूध और पानी का पानी हो गया। केवल तेजाब के कारखाने पर उसका दावा सिद्ध हुआ और यह समझौता हुआ कि सब भाई तीन-तीन रुपया मासिक उसको दें। इस प्रकार जाकर सन् १९३० में यह मुकद्दमा तय हुआ। पर जहाँ लाखों की संपत्ति न बच सकी वहाँ ९ रु० महीने से क्या हो सकता था, क्योंकि मैं, रामचंद्र और बालकृष्ण ही देते थे। गौरीशंकर और मोहनलाल तो उस ओर मिले हुए थे। निदान अब मोहनलाल को अपनी भूल जान पड़ी और वे अत्यंत दीन और दुःखी अवस्था में हो गए। फिर भी श्रीकृष्ण धर्मशाला से, जिसका मैं इस समय मैनिजिंग स्टीट्

हूँ, उन्हें ३०) मासिक मिलता है जिससे उनकी गृहस्थी का काम कुछ-कुछ चलता है। मोहनलाल सब विद्याओं में बड़े निपुण हैं। यद्यपि उनका मेरे प्रति ऐसा दुर्व्यवहार रहा है कि मेरे लिये उनका मुख देखना भी पाप है, पर यह समझकर कि वह मेरा सबसे छोटा सहोदर है जिसे तीन वर्ष का छोड़कर पिता स्वर्गवासी हुए थे और जिसकी ग्यारह वर्ष की अवस्था में माता का देहांत हुआ, मुझे उस पर क्रोध पर साथ ही साथ दया भी आती है। जितना दुर्व्यवहार उसने अपने स्वभाव से किया है उससे कहीं अधिक अन्य लोगों की प्रेरणा से हुआ है।

(७) जनवरी १९२७ में गवर्मेंट-द्वारा प्रयाग में हिंदुस्तानी अकाडमी की स्थापना हुई। इस संबंध में गवर्मेंट ने इस संस्था के निम्नलिखित उद्देश्य निर्धारित किए थे।

(1) The award of prizes (by a system of competition) for the production of best books on particular subjects.

(2) The translation of books into Urdu and Hindi by paid translators, and the publication of translations by the Academy.

(3) The encouragement of the production of original works or translations in Hindi and Urdu, whether by grants to Universities and Literary Associations or otherwise.

(4) The election of eminent writers to Fellowships of the Academy.

इस अनुष्ठान का आरंभिक अधिवेशन लखनऊ में हुआ और उसमें सर विलियम मैरिस और राय राजेश्वरबली ने भाषण देते हुए स्पष्ट शब्दों में कहा कि इस संस्था का मुख्य उद्देश्य साहित्यिक है; राजनीतिक भावना से प्रेरित होकर यह काम नहीं किया गया है। हिंदी और उर्दू दोनों भाषाओं की अंगपुष्टि यह करेगी। पर सन् १९३० में एक विशेष अधिवेशन में इस बात की घोषणा की गई है कि यह संस्था हिंदी और उर्दू दोनों को मिलाकर एक हिंदुस्तानी भाषा की परिपुष्टि के लिये उद्योगशील होगी। यह उस आंदोलन का आरंभ था जिसने आगे चलकर भयंकर रूप धारण किया। मैं समझता हूँ कि हिंदुस्तानी के प्रचार से हिंदी को बड़ी हानि पहुँचने की आशंका है, क्योंकि हिंदुस्तानी के पक्षपाती विशेषकर वे ही लोग हैं जो हिंदी से स्थूल रूप से परिचित या सर्वथा अपरिचित हैं और उर्दू से विशेष परिचित हैं। इसके अतिरिक्त हिंदुस्तानी में उच्च कोटि के साहित्य की रचना नहीं हो सकती। समझने की बात है कि हिंदी भारतवर्ष की उन आर्य-भाषाओं में से है जिनकी उत्पत्ति क्रमिक विकास के सिद्धांत के अनुसार संस्कृत से हुई है। देश के एक कोने से दूसरे कोने तक संस्कृत-शब्दों का प्रचार है। हमारे सब धर्म-कृत्य इसी भाषा में संपादित होते हैं। यदि भारतवर्ष में कोई ऐसी भाषा हो सकती है जो एकता के सूत्र में यहाँ की जनता को बाँध सकती है तो वह वही भाषा होगी जो संस्कृतप्राय होगी। हमारी हिंदी से चुन-चुनकर संस्कृत के साधारण से साधारण तत्सम शब्दों को निकालना और उनके स्थान में उर्दू के शब्दों को भरना मानों हिंदी की जड़ में

कुठाराघात करना है। यदि हिंदुस्तानी का प्रचार हो गया तो देश के अन्य भागों से—बंगाल, महाराष्ट्र, गुजरात आदि से—हमारा संबंध विच्छिन्न हो जायगा। मेरी समझ में तो परोक्ष रूप से गवर्मेंट भी इस आंदोलन की परिपोषक है। इसका एक प्रमाण लीजिए। जब हिंदुस्तानी अकाडमी द्वारा इस हिंदुस्तानी आंदोलन ने विकट रूप धारण किया और संयुक्त-प्रदेश के शिक्षा-विभाग की रिपोर्ट में यहाँ तक लिख दिया गया कि यह अकाडमी हिंदुस्तानी के प्रचार के अपने उद्देश्य में सफल हुई तब नागरी-प्रचारिणी सभा ने सन् १९३६ में गवर्मेंट का ध्यान उस ओर दिलाया और पूछा कि क्या इस अकाडमी का उद्देश्य हिंदुस्तानी का प्रचार करना है। इसके उत्तर में शिक्षा-विभाग के डायरेक्टर ने लिखा—the development of a common Hindustani language is not one of the objects of the Hindustani Academy. पर यह आंदोलन शांत न हुआ और गवर्मेंट ने उसके रोकने का भी कोई उद्योग न किया। अब तो यह अवस्था हो रही है कि "एक तो तितलौकी दूसरे चढ़ी नीम।" अभी तक यह अकाडमी का आंदोलन था, अब कांग्रेसी गवर्मेंटें भी इस आंदोलन का समर्थन कर रही हैं और हिंदुस्तानी की श्रीवृद्धि में सचेष्ट हो रही हैं। कांग्रेस हिंदू-मुस्लिम की एकता की मृग-मरीचिका के पीछे दौड़ रही है और सब कुछ त्याग कर तथा हिंदू-हितों की आहुति देकर भी उसे प्राप्त करना चाहती है। इस भ्रम का फल अच्छा नहीं होगा। हिंदू-संस्कृति पर यह सबसे बड़ा आक्रमण है। जब इसका लोग अनुभव करने लगेंगे तब इसके

दुष्परिणाम पर पश्चात्ताप करने के अतिरिक्त और कुछ बाकी न रह जायगा।

अस्तु, इस स्थिति को समझकर मैं अकाडमी से उदासीन हो गया। मैं नौ वर्षों तक इसका सभासद् रहा। मैं १९३३ में ही इससे अलग हो जाना चाहता था पर उस वर्ष मेरे सभासद् बने रहने के लिये गवर्मेंट की ओर से बहुत जोर दिया गया। सन् १९३६ के नए चुनाव से मेरे प्राण बचे। यह संस्था १२ वर्षों की हो चुकी और इसे गवर्मेंट से ३,२५,०००) की सहायता अब तक प्राप्त हुई है। इस धन से इसने ७९ ग्रंथों का प्रकाशन किया और १७ ग्रंथ छपने को पड़े हैं। कितना अपव्यय हुआ है यह इसी से अनुमान किया जा सकता है। इतने धन से तो नागरीप्रचारिणी सभा जैसी संस्था कई हजार ग्रंथ प्रकाशित करती। मेरा अपना विचार है कि इस संस्था की अंत्येष्टि क्रिया जितनी शीघ्र हो जाय उतना ही हिंदी और उर्दू का हित होगा। यदि गवर्मेंट वास्तव में हिंदी और उर्दू के साहित्य की श्रीवृद्धि करना चाहती है तो उसे इस २५,०००) वार्षिक में से २०,०००) उन हिंदी और उर्दू की चुनी हुई साहित्यिक संस्थाओं को उनके अपने व्यय के अनुपात में दान देना चाहिए और ५,०००) अपने हाथ में रखना चाहिए जिससे हिंदी और उर्दू के उत्तमोत्तम ग्रंथों के रचयिताओं को प्रतिवर्ष पुरस्कृत किया जा सके। इस प्रकार अपव्यय नहीं होने पायगा और कार्य भी अधिक होगा।

अकाडमी ने मेरे दो ग्रंथों का प्रकाशन किया, एक 'गोस्वामी तुलसीदास का जीवन-चरित्र' और दूसरा 'सतसई सप्तक'।

सन् १९३६ में मुझे आगरा युनिवर्सिटी ने कानपुर में तीन व्याख्यान हिंदी में देने के लिये आमंत्रित किया। मेरे तीन व्याख्यानों का विषय था—देवनागरी-लिपि, हिंदी-उर्दू-हिंदुस्तानी और हिंदी-साहित्य की रूप-रेखा। पहले दोनों व्याख्यानों का सारांश नागरी-प्रचारिणी पत्रिका में छपा है। उससे देवनागरी-लिपि और हिंदुस्तानी भाषा के संबंध में मेरे विचार स्पष्ट हो जायँगे।

(८) १ जनवरी १९२७ में भारत-गवर्मेंट ने मेरी हिंदी-सेवा के उपलक्ष में मुझे 'रायसाहब' की उपाधि दी। जून सन् १९३३ में 'रायबहादुर' की उपाधि प्रदान की गई। कई वर्षों के अनंतर यह विदित हुआ कि इन दोनों उपाधियों के दिलानेवाले रायबहादुर डाक्टर हीरालाल थे। सन् १९२६ के लगभग उन्होंने मिस्टर ए० एच० मेकेंजी को लिखा कि तुम्हारे प्रांत में हिंदी-साहित्य-सेवकों में श्यामसुंदरदास हैं। आश्चर्य है कि गवर्मेंट ने अब तक इनकी सेवाओं का मूल्य नहीं समझा। इस पर मिस्टर मेकेंजी ने 'रायसाहब' की उपाधि देने के लिये गवर्मेंट को लिखा। मुझे इसकी कोई सूचना न थी। पहली जनवरी को मैं बाबू जगन्नाथदास रत्नाकर के साथ घूमने गया था। वहाँ से संध्या को लौटने पर 'लीडर' पत्र मिला, जिससे मुझे पहले-पहल इस उपाधि-प्रदान की सूचना मिली। पर मुझे इससे कुछ आनंद नहीं हुआ, यहाँ तक कि मैंने अपने कई घनिष्ठ मित्रों, सभा, तथा युनिवर्सिटी से प्रार्थना कर दी कि वे लोग इस उपाधि का उपयोग न करें। इस पर डाक्टर हीरालाल ने फिर मिस्टर मेकेंजी को लिखा कि आपने उपाधि दी पर आपको यह ज्ञात

न होगा। कि इसका उपयोग नहीं हो रहा है। एक दिन प्रयाग में मैं मिस्टर मेकेंजी से सभा के संबंध में मिलने गया और बातें हो जाने के अनंतर उन्होंने कहा कि तुम्हें 'रायसाहब' की उपाधि से असंतोष हुआ है। तुम्हें इससे बड़ी उपाधि मिलेगी। पर यह धीरे-धीरे ही हो सकता है। मैंने कहा कि मैं इन उपाधियों का भूखा नहीं हूँ। जून सन् १९३३ में मैं बीमार पड़ा हुआ था। उस समय दोपहर को 'लीडर' पत्र मिला। उसमें मुझे 'रायबहादुर' की उपाधि मिलने की सूचना थी। इसके कुछ दिनों पीछे बाबू हीरालाल ने अपने पत्र में सब बातें लिख भेजीं तब मुझे विदित हुआ कि इन दोनों उपाधियों के दिलाने के कारण वे ही थे। कोई ओछी प्रकृति का मनुष्य होता तो इस बात का डंका पीट देता, पर डाक्टर साहब-से सौम्य और सज्जन प्रकृति के व्यक्ति का यह काम था कि ६, ७ वर्षों तक इस बात को अपने मन में दबाए रहे और संयोग से इस घटना का उल्लेख-मात्र कर दिया।

सन् १९३८ में हिंदी-साहित्य-सम्मेलन ने मेरी हिन्दी-सेवाओं के उपलक्ष में मुझे "साहित्यवाचस्पति" की उपाधि प्रदान की।

(९) सन् १९३३ में राय कृष्णदास ने सभा में पंडित महावीरप्रसाद द्विवेदी के अभिनंदन के लिये प्रस्ताव किया। यह निश्चय हुआ कि उनको एक ग्रंथ, जिसमें विद्वानों के लेख तथा श्रद्धांजलियाँ रहें, अर्पित किया जाय। मैं इसका संपादक नहीं होना चाहता था, पर राय कृष्णदास ने जोर दिया कि आप अपना नाम दे दीजिए, काम मैं सब कर लूँगा। मैं सहमत हो गया। लेख इकट्ठे होने लगे। यथासमय

सब लेखों का संग्रह प्रस्तुत हुआ और इंडियन प्रेस में छपने के लिए भेजा गया। बाबू शिवपूजनसहाय इन लेखों का संपादन कर छपवाने के लिये भेजे गए। अधिकांश काम हो जाने पर वे अपने लड़के की बीमारी के कारण काशी लौट आये, तब बाबू रामचंद्र वर्म्मा ने प्रयाग जाकर इस काम को पूरा किया। इस समय मुझे विदित हुआ कि इस काम में अँधाधुंध खर्च हो रहा है। राय कृष्णदास ने जिस प्रकार आयोजन करने का विचार किया था, उसे पूरा करने का काम नागरी-प्रचारिणी सभा-सी गरीब संस्था के सामर्थ्य के बाहर था। जिन जिनसे सहायता मिलने की आशा दिलाई गई उनसे नाम-मात्र की ही सहायता प्राप्त हुई। इस अवस्था में मैं स्वयं प्रयाग गया और ग्रंथ के श्रद्धांजलि-विभाग का कागज तथा जिल्द का कपड़ा बदलवाकर कोई २ हजार रुपये की बचत कराई। इस ग्रंथ की प्रस्तावना मेरे आदेशानुसार पंडित नंददुलारे वाजपेयी ने लिखी। इसमें जो मत या भाव प्रदर्शित किए गए हैं उन सबके लिये मैं उत्तरदायी हूँ। इसके लिये उत्तरदायी न तो राय कृष्णदास हैं और न पंडित नंददुलारे वाजपेयी ही। उत्सव के दो-तीन दिन पहले मैं प्रयाग से लौटा तो उसी दिन राय कृष्णदास और बाबू रामचंद्र वर्म्मा ने आकर मुझे सूचना दी कि प्रयाग में कुछ लोग इस उद्योग में हैं कि द्विवेदी जी काशी न आवें और यह उत्सव फीका पड़ जाय। इन दोनों ने आग्रह किया कि मैं और राय कृष्णदास आज ही प्रयाग जायँ और द्विवेदी जी से मिलकर उनके काशी पहुँचने का समय निश्चित कर आवें। लाचार मुझे जाना पड़ा और वहाँ सब बातें निश्चित करके रात को

हम लोग लौट आये। यथासमय उत्सव मनाया गया और द्विवेदी जी को वह ग्रंथ अर्पित किया गया। हम लोगों की बड़ी उत्कट इच्छा थी कि इस अवसर पर काशी-विश्वविद्यालय द्विवेदी जी को डाक्टर की आनरेरी उपाधि दे। इसके लिये पंडित रामनारायण मिश्र ने मालवीय जी से मिलकर आग्रह किया। मालवीय जी को हम लोग साग्रह उत्सव में लाए और यह सोचा गया कि मालवीय जी के मुँह से यदि आशाजनक वाक्य निकल जाय तो आगे उद्योग में सफलता की आशा की जा सकती है। जो कार्यक्रम बनाया गया था उसमें मालवीय जी का भाषण न था। यथासमय द्विवेदी जी अपना उत्तर पढ़ने के लिये खड़े हुए तो मैंने प्रार्थना की कि मालवीय जी के भाषण करने के अनंतर वे अपना वक्तव्य पढ़ें। द्विवेदी जी ने कुछ बिगड़कर कहा कि प्रोग्राम में यह नहीं है। मैंने क्षमा माँगी और चुपचाप बैठ गया। उत्सव के अनंतर पंडित रामनारायण मिश्र से ज्ञात हुआ कि द्विवेदी जी के वक्तव्य का प्रभाव मालवीय जी पर अच्छा नहीं पड़ा, पर हम लोग उद्योग करते गए। इधर द्विवेदी जी ने एक पत्र 'लीडर' में छपवाया जिसमें उन्होंने मुझे डाक्टर की उपाधि देने के लिये प्रस्ताव किया। काशी-विश्वविद्यालय का नियम यह है कि आनरेरी उपाधि के लिये केवल वाइस-चैंसलर ही प्रस्ताव कर सकते हैं। दूसरे किसी को ऐसा प्रस्ताव करने का अधिकार नहीं है। मैंने द्विवेदी जी को एक पत्र लिखा कि यह आपने क्या किया। आपको विश्वविद्यालय के नियम नहीं ज्ञात हैं। इस पत्र का उत्तर उन्होंने यह दिया—

दौलतपुर, रायबरेली
११-६-३३

प्रियवर बाबू श्यामसुंदरदास,

अनेक आशीर्वचन। आप अपने ८ जून के पोस्टकार्ड के उत्तर में मेरा निवेदन सुनने की कृपा कीजिए।

लीडर में छपे हुए मेरे पत्र को पढ़कर आपको आश्चर्य ही नहीं दुःख भी हुआ, यह मेरा दुर्भाग्य है। आपको दुखी करने की प्रवृत्ति मुझमें अवशिष्ट नहीं। दुःख पहुँचा ही हो तो मैंने जान-बूझकर नहीं पहुँचाया। आप मुझ अपराधी को क्षमा कीजिए।

उस संबंध में मैंने आपका नाम केवल मनुष्यत्व के नाते घसीटा। आपको यदि औरों के अभिनंदन का हक या अधिकार है तो वही अधिकार आप औरों को अपने विषय में क्यों न दें? इतनी कंजूसी क्यों? आप अभिनंदनग्रंथ की प्रस्तावना में मेरी स्तुति-प्रशंसा करें; और लोग मुझे डाक्टर बनाने के लिये लेख लिखें। मैंने क्या अपराध किया है जो आपके विषय के अपने भाव न व्यक्त कर सकूँ? भाई मेरे, मैं आपको अपने से बहुत अधिक अभिनंदनीय समझता हूँ। इसी से मैंने वैसा लिखा और आपके अनुसार आपका नाम घसीटा। यह भी मेरी ही गलती हो तो मैं फिर आपसे माफी माँगता हूँ।

रही अकारण वैमनस्य उत्पन्न करने की बात—सो सरकार, हृदय या मन में जहाँ वैमनस्य रहता है वहाँ उतनी जगह को मैंने वैमनस्य-प्रूफ करा डाला है। अब वहाँ वैमनस्य की पहुँच नहीं हो सकती। आप भी वैसा ही कीजिए। फिर वैमनस्य का कहीं पता ही न रहेगा।

एक बात आपने बहुत ठीक कही। वह यह कि मैं डाक्टर की आनरेरी उपाधि मिलने के नियम नहीं जानता। भगवन्, मुझे उन नियमों की जानकारी की मुतलक जरूरत नहीं। जिसे जिस चीज की प्राप्ति की जरूरत ही नहीं, वह उसकी प्राप्ति के नियम जानने की यदि चेष्टा न करे तो आश्चर्य की बात नहीं। जानें वे लोग जो उसकी प्राप्ति की ताक में हों। मैं यहाँ देहात में कुछ काम करता हूँ। उसके उपलक्ष में जिले के हाकिम मेरा अभिनंदन करना चाहते थे। पर मैंने इनकार कर दिया।

जरा आप अपने कोप को शांत कीजिए। किसी को डाक्टर की पदवी दे डालने का अधिकार मुझ नाचीज को नहीं, यह मैं बखूबी जानता हूँ। और हो भी तो आप उसे मेरे हाथ से भला क्यों लेने लगे। मेरा मतलब सिर्फ यह था कि अगर किसी ने मुझे डाक्टर की पदवी देने की इच्छा भी प्रकट की तो मैं उसको स्वीकार न करूँगा और कह दूँगा कि इसकी प्राप्ति के अधिकारी बाबू श्यामसुंदरदास मुझसे कई गुना अधिक हैं। देना ही है, तो उन्हें दी जाय। मुझे आप इस इतने अधिकार से तो वंचित न कीजिए। आप मेरे विषय में सब कुछ कहें, पर मैं आपके विषय में कुछ भी न कह सकूँ—यह तो सरासर जुल्म है। खैर, अगर यहाँ भी मुझसे ही गलती हो गई हो, तो आप पुनर्वार मुझे क्षमा करें। अंतिम प्रार्थना यह है कि आप अपने मानदंड से मेरे हृदय की नाप-जोख न करें।

प्रार्थी

म० प्र० द्विवेदी

इस प्रकार यह उद्योग निष्फल गया और मालवीय जी के कार्य-काल में किसी हिंदी के सेवक को कोई आनरेरी उपाधि न मिली।

(१०) २१ जून १९३२ को मेरे चालीस वर्ष के पुराने मित्र बाबू जगन्नाथदास 'रत्नाकर' का हरिद्वार में निधन हुआ। वे बहुत दिन से बीमार थे। उनके हृदय में रोग (Dilation of the heart) हो गया था जिसके कारण उनकी देह छूटी। मेरा उनका साथ बड़ा दृढ़ और घना था। वे भी मुझ पर बहुत स्नेह करते और निष्कपट भाव से मित्रता निबाहते थे। अपने सब साहित्यिक कामों में वे मेरा सहयोग रखते थे। वे व्रज-भाषा कविता के अंतिम श्रेष्ठ कवि थे। उनके निधन के अनंतर मैंने सोचा कि उनकी स्मृति को बनाये रखने का कोई उपाय करना चाहिए। उन्होंने स्वयं तीन हजार की निधि देकर अपने नाम से दो पुरस्कार देने का आयोजन नागरीप्रचारिणी सभा में किया था। द्विवेदी जी के अभिनंदन के उपरांत मेरी भावना इस प्रकार के आयोजन से बदल गई थी। मेरे विचार में इन अभिनंदनों से कोई स्थायी लाभ नहीं था। इससे कहीं अच्छा होता कि उनके ग्रंथों का एक उत्तम संग्रह प्रकाशित करके उनकी स्मृति को चिरस्थायी किया जाय। इसी विचार से प्रेरित होकर मैंने राधाकृष्णग्रंथावली को प्रकाशित करने का प्रबंध इंडियन प्रेस द्वारा किया था। उसका पहला भाग छप गया है और दूसरा भाग गंगापुस्तकमाला में प्रकाशित होगा। इसी प्रकार पंडित चंद्रधर शर्मा गुलेरी के निबंधों का संग्रह मैंने किया था, पर उसके प्रकाशन का कोई स्वतंत्र प्रबंध न हो सका तब मैंने नागरीप्रचारिणी सभा से उसके छापने का भार लेने के लिये प्रार्थना

की। सभा ने इसे स्वीकार किया। आनंद का विषय है कि कोई दो-ढाई वर्ष तक खटाई में पड़कर अब इसका छपना आरंभ हो गया है।* इसी भावना से प्रेरित होकर मैंने रत्नाकर जी की समस्त कविताओं के संग्रह को प्रकाशित करने का प्रबंध किया और वह सन् १९३३ में उनके प्रथम वार्षिक श्राद्ध की तिथि को प्रकाशित हो गया। इस प्रकार अपने तीन मित्रों में से राधाकृष्णदास के मित्र-ऋण से मैं अंशतः मुक्त हो गया हूँ, रत्नाकर जी का भी ऋण चुका दिया है, आशा है गुलेरी जी के मित्र-ऋण से मैं शीघ्र मुक्त हो जाऊँगा।

मेरी आंतरिक कामना है कि जयशंकरप्रसाद जी तथा प्रेमचंद जी के ग्रंथों का एक उत्तम संग्रह निकल जाता तो हिंदी के लिये गौरव की बात होती। पर अभी किसी उद्योगशील व्यक्ति का ध्यान इस ओर नहीं गया है। मित्रवर मैथिलीशरण गुप्त का भी अभिनंदन हुआ है, पर इसका कोई फल नहीं हुआ। मुझे इनके अभिनंदन में सम्मिलित होने के लिये पंडित पद्मनारायण आचार्य ने कहा था। मैंने यही उत्तर दिया कि मैं ऐसे अभिनंदन का पक्षपाती नहीं हूँ। पर जो काम तुम कर रहे हो करो, मै न तो उसका विरोध करूँगा और न उसमें सम्मिलित ही होऊँगा। "मैथिलीमान" नामक पुस्तक की घोषणा की गई थी, पर उसके अब तक दर्शन न हुए। पंडित अयोध्यासिंह उपाध्याय के लिये एक अभिनंदनग्रंथ प्रस्तुत किया गया। चारों ओर आदमी दौड़ाकर लेखों का संग्रह हुआ था। इस काम पर लोग वेतन

* खेद है कि कोई २५० पृष्ठ छप जाने पर आगे उसका छपना रुका है।

पर नियुक्त भी किए गए थे। सारांश यह कि मेरी सम्मति में 'अभिनंदन' की कामना उन्हीं में प्रबल है जिन्हें कदाचित् यह विश्वास नहीं कि उनके पीछे उनकी कृतियाँ उनकी स्मृति को चिरस्थायी बनाये रहेंगी। ऐसी यशोलिप्सा आदरणीय नहीं है। इसे तो उपेक्षा के भाव से सदा देखने में ही कल्याण है।❀

(११) थोड़े वर्ष हुए जब काशी की म्युनिसिपैलिटी तोड़ दी गई थी और उसके कार्यों का परिचालन एक विशेष सरकारी नौकर के हाथ बनारस के कमिश्नर की देख-रेख में दिया गया था। उस समय के कमिश्नर डाक्टर पन्नालाल से मेरा परिचय था। उन्होंने एक दिन मुझसे कहा कि बनारस की सड़कों के नाम यहाँ के विशिष्ट लोगों के नाम पर रखे जायँ तो अच्छा हो। उन्होंने मुझसे पूछा कि किन किन लोगों के नामों पर किस किस सड़क का नामकरण किया जाय। मैंने कहा कि तुलसीदास, भारतेंदु हरिश्चंद्र तथा कबीर आदि के नामों से सड़कें अंकित कर दी जायँ। यह कार्य हो गया है। पर मुझे खेद है कि गोस्वामी तुलसीदास का उचित आदर नहीं किया गया। उनका नाम एक छोटी-सी गली पर लगाया गया है, जो सर्वथा उपहास्य है। तुलसीदास-सा दूसरा कवि नहीं हुआ। उसके लिये तो गोदौलिया की चौमुहानी से लेकर अस्सीघाट तक लंबी सड़क का नाम तुलसी रोड होना चाहिए।

❀ पंडित श्यामबिहारी मिश्र का अभी तक अभिनंदन नहीं हुआ है, पर क्या आधुनिक हिंदी-साहित्य के इतिहास में उनकी कृतियों की उपेक्षा की जा सकती है, या उनका विस्मरण हो सकता है ?

(१२) सन् १९३७ के जुलाई मास से, ६२ वर्ष की आयु होने पर १६ वर्ष से अधिक काशी-विश्वविद्यालय की सेवा करके, मैंने अवसर ग्रहण किया। उसी वर्ष हिंदी-विभाग-द्वारा मेरी सांगोपांग बिदाई की गई। उस अवसर पर मुझे जो अभिनंदनपत्र दिया गया उसको मैं यहाँ इसलिये उद्धृत करता हूँ कि उसमें मेरी सेवाओं का संक्षेप में उल्लेख है और वह श्रेष्ठ साहित्यिक भाषा में लिखा गया है—

"आज इस विश्वविद्यालय के छात्रगण तथा हिंदी-विभाग के अध्यापक श्रद्धा और सत्कार, स्नेह और सौमनस्य, संभ्रम और सद्भाव के दो-चार कुसुम लेकर आपकी अर्चना करने के लिये आपके सम्मुख उपस्थित हैं। इस समय हमारे हृदय जिन भावों से आंदोलित हो उठे हैं, उन्हें व्यंजित करने में शब्दशक्ति कुंठित सी दिखाई देती है। ऐसी अवस्था में आपके उन गुणों की चर्चा, जो समय-समय पर हमें पुलकित और प्रमोदित, उद्यत और उत्साहित करते रहे हैं, यदि हमसे पूर्ण रूप से न हो सके तो कोई आश्चर्य नहीं।

"हिंदी-भाषा और साहित्य के वर्तमान विकास की इस परितोषक अवस्था के साथ आपकी तपस्या, आपकी साधना, आपकी विद्वत्ता, आपकी दक्षता और आपकी तत्परता का ऐसा अखंड संबंध स्थापित हो गया है कि इस युग की उत्कृष्ट साहित्यरचना का इतिहास आपकी उद्यमशीलता का इतिहास है। आपने ग्रंथों की ही नहीं, ग्रंथकारों की रचना की है। आपने धूल में लोटते और चक्की में पिसते यथार्थ रत्नों को राजमुकुट में स्थान दिलाया है। आपके

उद्देश्य, आपकी योजना तथा आपके आदर्श सदा उत्कर्षोन्मुख ही होते हैं। इससे चाहे आपका यथार्थ गुणानुवाद न बन पड़े, पर हमारे हृदय सर्वदा आपके प्रति कृतज्ञता के भाव से परिपूर्ण रहेंगे इसमें संदेह नहीं।

"आप ऐसे पुरुषरत्न को इतने दिनों तक अपने बीच प्रधान आचार्य और कार्य-प्रवर्त्तक के रूप में देख-देख हम कितना गौरव समझते आ रहे थे, कितने गर्व का अनुमान करते आ रहे थे! अतः इस विशेष कार्यक्षेत्र से आपके अलग होने पर जो दुःख हमें हो रहा है वह एक दो दिन का नहीं, अपनी जो गौरव-हानि हम समझ रहे हैं वह कभी पूरी होनेवाली नहीं। आप हमें छोड़कर जा रहे हैं, पर जो उज्ज्वल स्मृति छोड़े जा रहे हैं वह निरंतर हमारा पथप्रदर्शन करती रहेगी, हममें शक्ति और साहस का संचार करती रहेगी। इस विश्वविद्यालय के भीतर तथा अन्यत्र भी हिंदी के मान और प्रतिष्ठा के लिये आपने जो कुछ किया है वह चिरस्मरणीय रहेगा।

"इस अवसर पर रह-रहकर यह भी मन में उठता है कि आप हमसे अलग कहाँ हो रहे हैं। आपका हमारा संबंध इस विद्यालय तक ही परिमित नहीं है। वह कहीं अधिक विस्तृत और चिरस्थायी है। अंत में हम ईश्वर से यही प्रार्थना करते हैं कि आप शतायु होकर इसी प्रकार हिंदी के अभ्युदय का प्रयत्न करते रहें और हम आपकी सौम्य मूर्ति को अपने मनोमंदिर में सदा प्रेमासन पर प्रतिष्ठित रखें।"

(१३) सन् १९२० में राय कृष्णदास ने भारत-कला-परिषद् की

स्थापना की। इसके लिये उन्होंने कई वर्षों तक निरंतर उद्योग कर और अपना बहुत-सा रुपया खर्च करके तथा मित्रों से मँगनी लेकर अनेक चित्रों तथा अन्य कलात्मक वस्तुओं का संग्रह प्रस्तुत कर लिया। उनकी इच्छा थी कि इन सब वस्तुओं का प्रदर्शन सर्वसाधारण के लिये सुगम हो। इसके लिये पहले उन्होंने गुदौलिया (काशी) की चौमुहानी पर एक मकान भी १००) रुपये महीने किराये पर लिया था और उसमें सब वस्तुओं को सजाया था। राय कृष्णदास के पिता राय प्रह्लाददास का देहांत राय कृष्णदास की छोटी अवस्था में हो गया था। मैंने अनेक बेर इनके पिता के साथ इन्हें बाबू राधाकृष्णदास के स्थान पर देखा था। उसी समय मेरे मन में यह भावना उत्पन्न हुई थी कि इनकी प्रकृति कुछ अक्खड़ है। अस्तु, इनके पिता के देहावसान पर इनकी समस्त जिमींदारी कोर्ट आफ वार्ड्स के नियंत्रण में आगई। जब कृष्णदास बालिग हुए तो यह सब जिमींदारी तथा कई लाख रुपया नकद इनको मिला। सिर पर अंकुश न होने से इस अवस्था में इनका कला-प्रेम इन्हें कलात्मक वस्तुओं के संग्रह में उत्तेजित करता रहा। इसमें भी इन्होंने बहुत रुपया व्यय किया। गुदौलिया पर जब इन्होंने कलाभवन खोला, तब वह बहुत दिनों तक वहाँ न रह सका। अंत में वह स्थान छोड़ना पड़ा। चित्रों को तो ये अपने घर पर उठा ले गये और पत्थर की मूर्तियाँ आदिहिंदू स्कूल के एक कमरे में बंद कर दी गईं। सन् १९२५ में भारत-कला-परिषद् की रजिस्टरी कराई गई, पर कार्य व्यवस्थापूर्वक न चल सका। सन् १९२८ के अंत में अथवा सन्

१९२९ के आरंभ में मैंने इनके परम मित्र पंडित केशवप्रसाद मिश्र से कहा कि ये सब कलात्मक वस्तुएँ बंद पड़ी हैं, क्यों नहीं इन्हें राय कृष्णदास सभा-भवन में सजा देते। मिश्र जी के समझाने पर यह बात इनके मन में भी आगई। मुझे मिश्र जी इनसे मिलने के लिये एक दिन इनके स्थान पर ले गए। बात-चीत करने के अनंतर इन्होंने १३ मार्च सन् १९२९ को एक पत्र सभा को लिखा जिसमें यह कहा गया कि भारत-कला-परिषद् और नागरीप्रचारिणी सभा में संबंध स्थापना के लिये आपका बहुत दिनों से जो सदुद्योग है तदर्थ मैं भी सम्मत हूँ। इस संबंध के लिये इन्होंने कई शर्तें लिख भेजीं जिन पर सभा की प्रबंध-समिति के २० मार्च, ३ अप्रैल और २५ मई के अधिवेशनों में, विचार हुआ और निम्नलिखित शर्तें स्वीकृत हुईं।

१—इस संग्रहालय का नाम भारत-कला-भवन होगा।

२—उक्त भवन में भारत-कला-परिषद् का समस्त संग्रह जिसे उसने क्रय, भेंट और मँगनी-द्वारा एकत्र किया है और पुस्तकालय तथा काशी-नागरीप्रचारिणी सभा की हस्तलिखित पुस्तकें और वह सब सामग्री रहेगी जिसका संबंध भारतवर्ष के कला-कौशल, प्रयत्न तथा हिंदी के इतिहास से होगा और जो समय-समय पर प्राप्त या क्रय की जायँगी।

३—काशी नागरीप्रचारिणी सभा इस भवन की उन्नति और प्रबंध के लिये कम से कम ६००) वार्षिक व्यय करेगी और आवश्यकता तथा सामर्थ्य के अनुसार इस धन को बढ़ाती रहेगी।

४—इस संग्रहालय का समस्त प्रबंध एक समिति के अधीन रहेगा

जिसके आठ सदस्य होंगे। इनमें से तीन भारत-कला-परिषद् की कमेटी प्रति तीन वर्षों के लिये चुना करेगी और तीन को काशी-नागरीप्रचारिणी सभा की प्रबंध-समिति प्रति तीन वर्षों के लिये चुना करेगी, सातवें सदस्य सभा के प्रधान मंत्री होंगे और राय कृष्णदास आठवें आजीवन सदस्य होंगे। उनके न रहने पर आठवाँ सदस्य भारत-कला-परिषद् का मंत्री हुआ करेगा। इस समिति को किसी विशेष कार्य के लिये उपसमिति बनाने का अधिकार होगा, जिसमें उसे उस विषय के जाननेवाले तीन योग्य सदस्यों तक को नियत करने का अधिकार होगा। इस प्रकार सम्मिलित किये हुए सदस्यों की कार्य-अवधि कलाभवन-समिति नियत करेगी।

५—यदि समिति के किसी सदस्य का स्थान किसी कारण से खाली होगा तो उसके लिये अन्य व्यक्ति को वही संस्था चुनेगी जिसने पहले व्यक्ति को चुना होगा। पर किसी अवस्था में एक ही कुटुंब का एक से अधिक व्यक्ति इस समिति का सदस्य न रह सकेगा और यदि किसी सदस्य का स्थान खाली होने पर उसके स्थान की पूर्ति करनेवाली संस्था उस रिक्त स्थान की पूर्ति एक वर्ष के भीतर न करेगी तो दूसरी संस्था को उस स्थान की पूर्ति का अधिकार होगा।

६—कला-भवन की रक्षा और प्रबंध के लिये समिति को कला-परिषद् और काशी-नागरीप्रचारिणी सभा से अविरुद्ध नियम, उपनियम आदि बनाने का और उनमें परिवर्तन आदि का पूर्ण अधिकार रहेगा।

७—समिति अपने कार्य की एक वार्षिक रिपोर्ट काशी-नागरी-

प्रचारिणी सभा तथा भारत-कला-परिषद् को देगी जो उनके वार्षिक विवरणों में सम्मिलित की जायगी।

८—कला-भवन के आय-व्यय का समस्त लेखा सभा के बही-खातों में निरंतर लिखा जायगा और उसके आडिटरों-द्वारा यथानियम उसकी जाँच हुआ करेगी। इस जँचे हुए हिसाब का एक प्रमाणित चिट्ठा सभा प्रतिवर्ष भारत-कला-परिषद् को दिया करेगी।

९—इस भवन के निःशुल्क संग्रहाध्यक्ष (आनरेरी क्यूरेटर) राय कृष्णदास होंगे और जब तक वे उस पद को स्वयं न छोड़ दें तब तक उस पर बने रहेंगे।

१०—संग्रहाध्यक्ष का पद खाली होने पर समिति दूसरा संग्रहाध्यक्ष किसी नियत काल के लिये चुनेगी और जब-जब आवश्यकता होगी ऐसी नियुक्ति करती रहेगी। एक ही व्यक्ति की एक से अधिक काल के लिये नियुक्ति समिति की इच्छा से हो सकेगी।

११—परिषद् के संग्रह की उन वस्तुओं पर जो मँगनी की हैं यदि मँगनी की कोई शर्त है तो यह नया प्रबंध भी उससे सदैव बँधा रहेगा।

१२—परिषद् को अपनी प्रकाशित पुस्तकों, चित्राधारों वा अन्य प्रकाशनों में संग्रहालय के चित्र आदि प्रकाशित करने का अधिकार रहेगा परंतु सभा को छोड़कर किसी भी अन्य व्यक्ति अथवा संस्था को इस बात की अनुमति बिना उक्त समिति की विशेष आज्ञा के न दी जायगी।

१३—समिति की विशेष आज्ञा के बिना संग्रहालय की कोई भी वस्तु सभा के अहाते के बाहर न जा सकेगी।

१४—यदि सभा इन शर्तों को पूरा न करे तो अथवा यदि किसी समय इस कला-भवन के संग्रहालय की इतनी उन्नति हो कि उसके लिये सभा-भवन का वह भाग जो उसके लिये अलग किया जाय पर्याप्त न हो तथा काशी-नागरीप्रचारिणी सभा अधिक स्थान अथवा नये भवन का उपयुक्त प्रबंध करने में असमर्थ हो और भारत-कला-परिषद् उपयुक्त स्थान का प्रबंध कर सके तो जो सामग्री उक्त परिषद्-द्वारा इस संग्रहालय में संगृहीत होगी वह उसे वापस मिल सकेगी। किंतु २५ वर्ष तक इस प्रबंध के सुचारु रूप से चलने पर यह संग्रह हस्तांतरित न किया जा सकेगा।

इस निश्चय के अनुसार कला-भवन सभा में आया और उसका सब सामान सजाया गया। यद्यपि सभा ने ६००) वार्षिक देने का वचन दिया था पर खर्च इस प्रकार हुआ—

संवत्	आय	व्यय
१९८६	१२७।≡)	१९०६।।।)
१९८७	७२८)	१९८८।।-)।।
१९८८	७३=-)।।।	२६५३)
१९८९	७९४।।=)।।	२४०७)।।।
१९९०	४१२=)	१०५३।।=)४½
१९९१	२३०।।।=)	९२७।=)।
१९९२	४५७।।≡)।	११९१-)७½

<table>
<tr><th>संवत्</th><th>आय</th><th>व्यय</th></tr>
<tr><td>१९९३</td><td>१३३८≡)</td><td>१७०८–)|||</td></tr>
<tr><td>१९९४</td><td>३६९||)|</td><td>४३१)|||</td></tr>
<tr><td>१९९५</td><td>३२५०≡)||</td><td>११५३|||–)</td></tr>
<tr><td></td><td>८४५६|||–)|</td><td>१५४२०||)|</td></tr>
</table>

ये आँकड़े सभा की रिपोर्ट से लिए गए हैं। प्रारंभ में अवश्य सजाने का सब सामान इकट्ठा करने में बहुत व्यय हुआ। इस समय सभा के प्रधान मंत्री बाबू माधोप्रसाद जी थे। इनका मेरा स्नेह बहुत पुराना है। वे स्वभाव के दृढ़ व्यक्ति हैं। नियम के प्रतिकूल कोई काम हो जाना इनके रहते असंभव है। अस्तु, संवत् १९८८ में राय कृष्णदास यह समझकर प्रधान मंत्री चुने गए कि कला-भवन और सभा का सब काम एक आदमी के हाथ में रहने से संघर्ष की आशंका कम हो जायगी और काम सुचारु रूप से चलेगा। संवत् १९८९ में भी वे प्रधान मंत्री चुने गए।

संवत् १९८६ की सभा की रिपोर्ट में लिखा है—"इसकी (कला-भवन की) एक सचित्र सूची तैयार हो रही है जो शीघ्र ही प्रकाशित की जायगी।"

इस बात को आज ग्यारह वर्ष हो गए पर अभी तक वह सूची नहीं तैयार हुई। इन ग्यारह वर्षों में कई बेर यह प्रश्न सभा में उठा और सूची बनाने के लिये व्यय भी स्वीकार हुआ, पर सूची न बनी। इस रहस्य का तात्पर्य समझना कठिन है और अनुमान से काम लेना निरापद नहीं है। एक पत्र (१५-७-३६) में राय कृष्णदास ने सभा को लिखा था—

"यह बात अनेक बेर कही जा चुकी है कि कलाभवन की सूची अभी तक तैयार नहीं हुई। किसी विशाल संग्रह की सूची बनाना साधारण काम नहीं है। अब तक जो काम इस विषय में किया गया है वह इतने समय के लिये यथेष्ट है। डाक्टर मोतीचंद ने, जिनके ऊपर इस काम का भार है, मुझसे कहा है कि उन्होंने सूची का कार्य केवल कलाभवन के स्नेहवश किया है। इससे उनका और कोई लाभ नहीं। इसलिये वे इस बात को स्पष्ट कर देना चाहते हैं कि वे कलाभवन की सूची को किसी निर्दिष्ट समय में बनाने के लिये बाध्य नहीं हैं। यदि सभा का व्यवहार शिष्ट रहा तो ज्यों ज्यों उन्हें फुर्सत होगी वे इस काम को पूरा कर सकेंगे, अन्यथा नहीं।"

इस पत्र से यह स्पष्ट है कि सभा में कलाभवन आने के बाद तक यही परिस्थिति थी। इसी अवस्था में कलाभवन में तीन बेर चोरी हुई। बड़े बड़े अनुमान लड़ाए गए, पर चोरी का पता न चला और सूची के अभाव में यह निश्चयपूर्वक नहीं कहा जा सका कि कौन कौन वस्तु चोरी गई। केवल अनुमान से एक सूची बनाकर पुलिस में दी गई। चोरी का पूरा पूरा पता न लगा। हाँ, एक बात अवश्य हुई। अनेक प्रकार के अपवाद चारों ओर फैल गए और भिन्न-भिन्न व्यक्तियों पर दोषारोपण किया गया। इन अपवादों तथा दोषारोपों में कोई प्रामाणिक बात न होने से उनका उल्लेख करना व्यर्थ है। पर इन दुर्घटनाओं से मेरी आत्मा को बड़ा कष्ट पहुँचा। यह सब होते हुए भी कलाभवन का कोई संतोषजनक प्रबंध न हो सका। राय कृष्णदास यह चाहते थे कि कलाभवन की एक समिति

या उपसमिति बने जो सभा से स्वतंत्र हो और उसके कार्य में कोई हस्तक्षेप न कर सके, सभा केवल ६००) वार्षिक देती जाय। एक पत्र में उन्होंने स्पष्ट लिखा था—"यह बात प्रबंध-समिति स्पष्ट रूप एवं स्पष्ट हृदय से मान ले कि कलाभवन-समिति प्रबंध-समिति के अंतर्गत स्वायत्त संस्था है।" मैं इसे स्वीकार नहीं कर सकता था क्योंकि प्रबंध-समिति को नियमानुसार 'उपसमिति' स्थापित करने का अधिकार था। समिति तो केवल साधारण सभा बना सकती थी। उनके कार्यों से यह स्पष्ट था कि वे सभा को गौण और कलाभवन को प्रधान बनाना चाहते थे। सभा से उसका संबंध उतना ही चाहते थे जितना अत्यंत आवश्यक हो। जब कभी कोई सभा में आता या बुलाया जाता तो उसकी सूचना में नागरीप्रचारिणी सभा का उल्लेख गौण रूप से होता या होता ही नहीं। मेरा उद्देश्य कलाभवन को सभा का एक प्रधान अंग बनाना था। इस प्रकार ध्येयों में विभिन्नता होने के कारण संघर्ष चलता रहा। एक समय तो यह भी विचारा गया कि कलाभवन लौटा दिया जाय और झगड़ा शांत किया जाय। तब इस बात की जाँच होने लगी कि यदि कलाभवन लौटाया जाय तो किसको सौंपा जाय। क्या भारत-कला-परिषद् का कहीं अस्तित्व है कि उसकी वस्तु उसको दे दी जाय! कला-परिषद् को जीवित सिद्ध करने की राय कृष्णदास ने चेष्टा भी की। सन् १९२५ में छपी सूची के अनुसार उसके १०६ सदस्य थे। पर जनवरी १९३६ में उसके ८ सदस्य रह गए थे जो आनरेरी या स्थायी थे। सन् १९२७ से रजिस्ट्रार, ज्वाइंट स्टाक कंपनी के पास कला-परिषद् के कार्यकर्त्ताओं

और प्रबंध-समिति के सभासदों की कोई वार्षिक सूची नहीं भेजी गई थी और न कोई नया चुनाव ही हुआ था। २९ नवंबर सन् १९३५ को ८ ऐसी सूचियाँ बनाकर रजिस्ट्रार के पास भेजी गईं जो १९२७-२८, १९२८-२९, १९२९-३०, १९३०-३१, १९३१-३२, १९३२-३३, १९३३-३४, १९३४-३५ की थीं। इन सब सूचियों में एक ही-से नाम थे, अधिकारियों में से दो की मृत्यु हो चुकी थी, बाकी सब सभासदी के अधिकार से शून्य थे, केवल दो महाशय अधिकारी थे। बाबू गौरीशंकरप्रसाद ने इन सूचियों को देखकर यह लिखा था—"How can dead persons function as office-bearers? It is unthinkable." जब यह बात सूझी कि इन सूचियों का परिणाम कैसा भयानक हो सकता है, तब यह मामला शांत हुआ। एक बात अच्छी हुई कि रजिस्ट्रार ने इन सूचियों को यह कहकर लौटा दिया कि इन पर उस संस्था का नाम होना चाहिए जिसके कार्यकर्त्ताओं आदि की ये सूचियाँ हैं। इस प्रकार यह आधार भी नष्ट हो गया कि कला-परिषद् अब जीवित है। अतएव उसके ८ सभासद् जो बचे थे उनको पत्र लिखकर पूछा गया कि क्या आप लोगों को यह स्वीकार है कि कलाभवन नागरीप्रचारिणी सभा में बना रहे। इनमें से पाँच महाशयों ने अपनी स्वीकृति दी और ६ जून १९३६ के प्रबंध-समिति के अधिवेशन में यह निश्चय हुआ कि "कलाभवन का समस्त प्रबंध एक उपसमिति के अधीन होगा जो प्रति तीसरे वर्ष काशी-नागरीप्रचारिणी सभा की प्रबंध-समिति-द्वारा अपने सदस्यों में से चुनी जाया करेगी।"

इस निश्चय के अनुसार कार्य करने के लिये कुछ नियम भी बनाए गए पर वे कलाभवन के अध्यक्ष को स्वीकृत न हुए और उन्होंने नए प्रस्ताव किए। इस बीच में मैंने एक नोट (१-७-३६) में अर्थ-मंत्री को इस प्रकार आदेश दिया—

I think the Financial Secretary should exercise strict supervision in all financial matters He should not allow any bungling in any department of Sabha

इस "बंगलिग" शब्द पर राय कृष्णदास तथा डाक्टर मोतीचंद को विशेष आपत्ति हुई। Bungle शब्द का अर्थ आक्सफोर्ड कनसाइज डिक्शनरी में इस प्रकार दिया है—"(make) clumsy work, confusion; blunder over, fail to accomplish (task)" राय कृष्णदास ने अपने प्रस्तावों को भेजते हुए अपने १५ जुलाई १९३७ के पत्र में यह लिखा था—

"यदि मेरे प्रति आपके मन में अविश्वास है तो मैं सहर्ष कलाभवन के कामों से अलग होता हूँ। मेरी सारी सद्भावना उसके साथ है और रहेगी; दूर से। मैं इसका इच्छुक नहीं कि आप अपनी इसी मनोवृत्ति के लिये 'मार्जन' तो कर लें किन्तु आपके अंतःकरण में वह चुभती रहे। ऐसी दशा में तटस्थ होकर मैं ईश्वर से यह प्रार्थना करना उचित समझता हूँ कि वह आपको मुझे पहिचानने की सुबुद्धि दे।"

डाक्टर मोतीचंद ने एक लंबे पत्र में मेरे इस कथन पर आपत्ति करते हुए लिखा था—

"If you think that there is a defalcation in the accounts of the Kala Bhavan please do bring a definite charge and those connected should be brought to book, otherwise it will not be possible for me to continue any longer in such an atmosphere." मैं इस संबंध में यहाँ कुछ न कहकर उन लोगों को जो अधिक जानने के इच्छुक हों सभा का हिसाब निरीक्षण करने के लिये कहूँगा।

इस प्रकार झगड़ा बढ़ते देखकर प्रबंध-समिति ने पंडित रामनारायण मिश्र, रायसाहब ठाकुर शिवकुमारसिंह, तथा रायबहादुर पंड्या बैजनाथ से प्रार्थना की कि व लोग दोनों पक्षों की बातें सुनकर और सब कागज-पत्र देखकर शांति का मार्ग निकालें। इन महाशयों ने २१-७-३६ को सभा को लिखा—"प्रबंधकारिणी समिति के आज्ञानुसार हम लोगों ने कला-भवन- संबंधी पत्र-व्यवहार पढ़ा और सभापति जी और अध्यक्ष जी (कला-भवन) का वक्तव्य सुना। हमें बड़ा हर्ष है कि दोनों सज्जनां में समझौता हो गया और भविष्य में दोनों मिलकर नियमादि बना लेंगे।"

पर यह हर्ष और रायसाहब का त्याग क्षणिक रहा क्योंकि दो दिन पीछे २३ जुलाई १९३६ को राय कृष्णदास के वकील बाबू ठाकुरदास ने सभा को यह नोटिस दी।

"अपने मुवक्किल राय कृष्णदास के आदेशानुसार आपको सूचित करता हूँ कि भारत-कला-परिषद् ने अपनी संपूर्ण संपत्ति

भारत-कला-भवन को विशेष शर्तों पर देना निश्चय किया। उनमें कुछ ऐसी चीजें हैं जो मेरे मुवक्किल जब चाहें वापस ले सकते हैं, व तो उसी शर्त पर भवन के भी सुपुर्द हैं; परंतु अभी तक उसकी संपूर्ण शर्तें कार्यान्वित नहीं की गई हैं। जब तक वे साधारण सभा में स्वीकृत न हो जायँ उस समय तक मेरे मुवक्किल को भी उन शर्तों को रद्द कराने का पूरा अधिकार बाकी है। मेरे मुवक्किल कला-भवन के आजन्म संग्रहाध्यक्ष हैं, अतएव कला-भवन की संपूर्ण वस्तु उनके अधिकार में है और उनकी अनुमति या आज्ञा के बिना कोई वस्तु वहाँ से हट-बढ़ नहीं सकती और न कलाभवन खुल सकता है। उनको पता चला है कि उनकी आज्ञा व अनुमति के बिना उसमें कुछ चल-विचल होनेवाला है और कला-भवन खोला जानेवाला भी है। ऐसा होना बड़ा अनुचित तथा अनियमित है। आप कृपाकर ऐसा न होने दीजिए। नहीं तो उनको खेद के साथ हुक्म इम्तिनाई निकलवाना पड़ेगा।"

इस संबंध में यहाँ यह सूचित करना आवश्यक है कि तारीख १७ अगस्त १९३६ को सभा-भवन में सर हैरी हेग पधारनेवाले थे। अतएव यह नोटिस बहुत ही सामयिक थी। सारांश यह कि यह झगड़ा चलता रहा और कार्य को नियमित रूप से चलाने का कोई मार्ग निकलता दिखाई न पड़ने से सभा ने निश्चय किया कि कला-भवन की वे सब वस्तुएँ जो कला-परिषद्-द्वारा प्राप्त हुई हैं लौटा दी जायँ। इस पर यह कानूनी आपत्ति हुई कि कला-परिषद् तो अब जीवित नहीं है फिर ये वस्तुएँ लौटाई नहीं जा सकतीं। इस बीच

में एक घटना और हो गई। राय कृष्णदास ने सभा को लिखा कि मैंने ८० वस्तुएँ कला-परिषद् को मँगनी दी थीं वे सब मुझे लौटा दी जायँ। मैंने पूछा कि कला-परिषद् एक रजिस्टर्ड संस्था है। उसका कार्य-विवरण अवश्य होगा और उसमें यह लिखा होगा कि कब और किन शर्तों पर ये वस्तुएँ कला-भवन में आईं। उन्होंने यह उत्तर दिया कि इस संबंध में मेरा वचनही प्रमाण है। यह इतना बड़ा प्रमाण था कि इसके आगे सबको सिर झुकाना पड़ा। वस्तुएँ लौटा देने का निश्चय हुआ।

इसी समय के लगभग और दो-एक घटनायें ऐसी घटित हुईं कि उन्होंने मुझे बहुत क्षुब्ध कर दिया और मैं चिंताग्रस्त रहने लगा।

१० अप्रैल १९३३ को जब सभा के वार्षिक आयव्यय तथा अगले वर्ष का अनुमान-पत्र उपस्थित किया गया तब यह विदित हुआ कि १८१३॥-)॥। अमानत में लेना है। मैंने उस हिसाब की जाँच की तो यह विदित हुआ कि इसमें से १४३३॥।) एक कार्यकर्त्ता महाशय ने समय-समय पर लेकर अपने निजी खर्च में व्यय किया है। मैंने उनसे कारण पूछा तो उन्होंने कहा कि मैं सभा को अपनी समझता हूँ। इसलिये मैंने यह रुपया लिया है। मैं इसे सूद-सहित लौटा दूँगा। मैंने कहा कि सभा कोई महाजनी का व्यापार नहीं करती जो तुम्हें रुपया उधार दे। मैंने उचित समझा कि यह व्यवस्था प्रबंध-समिति को बता दी जाय, क्योंकि सार्वजनिक संस्था होने से इस प्रकार की गड़बड़ अगोपनीय है और प्रकट होने पर सब पर लांछन लग सकता है। सभा के हित के आगे मुझे

अपने बड़े से बड़े मित्र की भी उपेक्षा करनी पड़े तो मैं सदा उसके लिये प्रस्तुत रहता हूँ। मैंने सब व्यवस्था प्रबंध-समिति के समुख उपस्थित की। वहाँ से निश्चय हुआ कि यह रकम एक सप्ताह के अंदर वसूल कर ली जाय। भविष्य में ऐसी अव्यवस्था से बचने के लिये निम्न-लिखित सिद्धांत उसी अधिवेशन में स्थिर किए गए—

"(७) निश्चय हुआ कि बंक से रुपया मँगाने के लिये चेक पर प्रधान मंत्री और अर्थ-मंत्री के संयुक्त हस्ताक्षर हुआ करें।

"(८) निश्चय हुआ कि जो रुपया सभा में आवे वह सब सीधे बंक में भेज दिया जाय। उसमें से कुछ व्यय न किया जाय। व्यय के लिये जितने धन की आवश्यकता हो उतना चेक-द्वारा बंक से मँगाया जाय।

"(९) निश्चय हुआ कि बँधे हुए मासिक वेतन तथा साधारण फुटकर व्यय को छोड़कर और कोई रकम प्रबंध-समिति की स्वीकृति के बिना न दी जाय और न उक्त समिति की स्वीकृति के बिना किसी प्रकार के व्यय का कार्य ही किया जाय। साधारण फुटकर व्यय के लिये अमानत की भाँति सहायक मंत्री के पास ५०) रहा करे।"

एक और घटना का हाल संक्षेप में कहता हूँ। बाबू जगन्नाथदास 'रत्नाकर' ने कई हजार रुपया अपने पास से व्यय करके सूरसागर की अनेक प्राचीन हस्तलिखित प्रतियाँ इकट्ठी की थीं और अपना सिद्धांत स्थिर करके उसके संपादन-कार्य को आरंभ किया था। पर उनका देहांत हो जाने के कारण वे उस काम को पूरा न कर सके।

उनके सुपुत्र बाबू राधेकृष्णदास ने वह सब सामान सभा को दे दिया जिसमें वह उपयुक्त प्रबंध करके सूरसागर का प्रकाशन कर सके। सभा ने इस कार्य का आयोजन किया और मुंशी अजमेरी जी को, राय कृष्णदास के परामर्श पर, इस कार्य का भार सौंपा। अजमेरी जी चाहते थे कि उन्हें वर्ष में चार महीने बिना वेतन के छुट्टी मिला करे। वे नित्य केवल चार घंटे काम करने के लिये उद्यत थे। काम तो उन्होंने आरंभ कर दिया, पर उनकी शर्तें मुझे अनुचित जान पड़ीं। इसलिये मैंने इनका विरोध किया। कई महीनों तक विवाद चलने के अनंतर अजमेरी जी ने त्यागपत्र दे दिया और पंडित नंददुलारे वाजपेजी संपादक चुने गए। इस विवाद के कारण वैमनस्य की मात्रा बढ़ी और कला-भवन को लेकर उसने और भी विषम रूप धारण किया। पंडित नंददुलारे वाजपेयी ने समस्त सूर-सागर का संपादन किया और उसके छापने का प्रबंध हुआ। इस काम में सभा का बहुत रुपया लग गया था। इस कारण सभा उसको छपवाने में असमर्थ हो चली। मैंने प्रस्ताव किया कि मूल सूरसागर "सूर्यकुमारी पुस्तक-माला" में प्रकाशित किया जाय। मुझे खेद के साथ कहना पड़ता है कि साधारण-सी साधारण पुस्तकों के लिये दो हजार से अधिक रुपया खर्च किया जा सकता था, पर सूरदास की कीर्ति के लिये किसी ने ध्यान भी न दिया। इसका कारण कदाचित् इस कार्य स मेरी अधिक रुचि हो, अथवा प्रबंध-समिति साहित्य के रत्नों की रक्षा से उदासीन हो। कारण कुछ भी हो, वह संपादित ग्रंथ बस्तों में बंद पड़ा है।

सभा की इस परिस्थिति और आर्थिक अवस्था को देखकर बाबू गोपालदास ने, जो सभा के आरंभ से ही, ३५ वर्ष तक, सहायक मंत्री थे, अपने पद से त्यागपत्र दे दिया। बाबू गोपालदास ने सभा की अमूल्य सेवा की है। उनकी उपस्थिति में हम लोगों को कभी इस बात की चिंता नहीं हुई कि सभा का एक पैसा भी कहीं चला जायगा, पर किसी-किसी कार्यकर्ता का अपने निजी खर्च के लिये अमानत में लिखाकर रुपया ले लेना उन्हें अरुचिकर था। वे इसको रोक भी नहीं सकते थे, क्योंकि आज्ञा के अनुसार कार्य करना उनका कर्त्तव्य था। उन्होंने मुझसे स्पष्ट कहा था कि 'यह स्थिति मेरे सँभाले न सँभलेगी और इसके लिये मुझे कदाचित् जेल तक जाना पड़े। कम से कम मेरी पिछली सब सेवाएँ भूलकर मुझे घोर लांछन लगेगा।' इन विचारों से प्रेरित होकर उन्होंने त्यागपत्र दे दिया और वह १६ सितंबर १९३३ के अधिवेशन में स्वीकृत भी हो गया। ३५ वर्ष सभा की सेवा करके बाबू गोपालदास सभा से अलग हुए। सभा को कोरे धन्यवादों के अतिरिक्त उनके सम्मान के लिये कुछ करना चाहिए था।

(१४) इन सब घटनाओं का प्रभाव मेरे मन और शरीर पर बहुत बुरा पड़ा। साथ ही एक और चिंता मन को व्याकुल करती रहती थी। सभा पर इस समय कई हजार का ऋण हो गया था। यह ऋण कहीं बाहर से नहीं लिया गया था। सभा की ही भिन्न-भिन्न निधियों के रुपए दूसरे कामों में खर्च हो गए थे। कला-भवन, द्विवेदी-अभिनंदन, सूरसागर आदि कार्यों में अनुमान से बहुत खर्च

हो गया था, जो सभा की प्रतिष्ठा को ध्यान में रखते हुए एक प्रकार से अनिवार्य था। मैंने बहुत चाहा कि यह ऋण क्रमशः कम होता चले तो दस-पाँच वर्ष में वह चुक जायगा पर एक ऋण के चुकाने का आयोजन होता था कि दूसारा खर्च अचानक सिर पर आ पड़ता था। मैंने बहुत उद्योग किया पर मुझे सफलता न मिली। आज तक सभा के जितने काम मैंने हाथ में लिए थे उनमें बहुत साहस से काम लिया था और मुझे पूरी सफलता प्राप्त हुई थी। पर अब ऐसा नहीं हो रहा, इसका कुछ कारण अवश्य होना चाहिए। मैंने अपने सब कामों में ईश्वर की प्रेरणा का स्पष्ट अनुभव किया है। अब यदि मैं अपने उद्योगों में सफल नहीं हो रहा हूँ तो यही मानना पड़ा कि ईश्वर की यही इच्छा है कि मैं इस काम से विरत हो जाऊँ और दूसरों को उसे करने दूँ। यह सोचकर मैंने सभापतित्व से त्यागपत्र दे दिया, क्योंकि मेरी तीन वर्ष की अवधि पूरी होनेवाली थी। त्यागपत्र स्वीकृत हुआ, पर वार्षिक अधिवेशन में मैं पुनः सभापति चुना गया। यह कुछ लोगों को रुचिकर न हुआ और एक Petition of Rights तैयार की गई कि यह चुनाव विधान-विरुद्ध है। इन लोगों का उद्देश्य केवल यह था कि हमारे मार्ग का काँटा दूर हो जाय। इन बातों को खूब विचारकर कि मैंने इस समय के कर्तव्य का निश्चय किया कि सभा के विधान की रक्षा करना मेरा सबसे बड़ा कर्तव्य है। इस निश्चय के अनुसार मैंने १५ जुलाई सन् १९३७ को निम्नलिखित त्यागपत्र दे दिया—

"मैंने नियम ३६ पर विचार किया। यद्यपि लगातार तीन वर्ष का

अर्थ संदिग्ध है और उस पर मतभेद हो सकता है, पर सभा के विधान की रक्षा करना प्रत्येक सभासद् का कर्त्तव्य है। वार्षिक अधिवेशन में सभापति ने अपनी सम्मति दी थी, पर उस पर न तो कोई विवाद हुआ और न उन शब्दों का अर्थ निश्चित किया गया। फिर भी इतना निश्चित है कि तीसरे वर्ष के अंश को भी पूरा तीसरा वर्ष मान लेने में किसी प्रकार की आपत्ति नहीं हो सकती। अतः मैं सभापति के पद से त्यागपत्र देता हूँ। प्रार्थना है कि सभा इसे स्वीकार करने की कृपा करे।"

यह पत्र १४ अगस्त की साधारण सभा में ४ मतों के पक्ष और २ मतों के विरोध से स्वीकृत हुआ। कुछ लोग तटस्थ रहे और उनमें वे लोग थे जो समय को समझकर चलनेवाले थे। अस्तु, इस प्रकार मैं सभा के कार्यभार से मुक्त हुआ। इसके अनंतर पंडित रामनारायण मिश्र सभापति चुने गए और उन्होंने अपने अनुकूल परिस्थिति उत्पन्न करके सभा का कार्य चलाया। यहाँ यह कह देना आवश्यक और उचित है कि यद्यपि अनेक बातों में मेरा उनका मत नहीं मिलता और मैं उनकी कार्य-प्रणाली से सर्वथा सहमत नहीं था, फिर भी यह अवश्य है कि उन्होंने सभा की आर्थिक स्थिति सुधारने का सफलतापूर्वक बड़ा स्तुत्य उद्योग किया और इसके लिये उनका जितना श्रेय माना जाय थोड़ा है। मैंने अब सभा के सब कामों से हाथ खींच लिया और १८ अगस्त १९३७ के अनंतर मैं उसके किसी अधिवेशन या उत्सव में सम्मिलित नहीं हुआ। १५ अक्तूबर से सभा-भवन में हिंदी-साहित्य-सम्मेलन का २८वाँ वार्षिक अधिवेशन

हुआ। उस अवसर पर यह सोचकर कि मेरे न जाने से व्यर्थ भ्रम फैलेगा, मैं तीन दिन सम्मेलन में सम्मिलित होने गया। ईश्वर की प्रेरणा से मैंने ४५ वर्षों तक निरंतर सभा की सेवा की और मैं सदा उसकी हित-कामना में रत रहा। पर अब उससे मैं विरत सा हो रहा हूँ। इसमें भी ईश्वर की इच्छा ही प्रबल है।

(१५) विश्वविद्यालय से अवसर ग्रहण करने तथा सभा से अलग होने पर, (यद्यपि मैं उसका सभासद् बना हुआ हूँ) मैंने अपने ग्रंथ साहित्यालोचन, हिंदी-भाषा और साहित्य, और भाषा-विज्ञान के नए परिवर्धित और संशोधित संस्करण प्रस्तुत किए तथा रामायण की टीका को दुहराकर ठीक किया और उसकी नई प्रस्तावना लिखी।

इन ४५ वर्षों में मेरे घनिष्ठ मित्रों में अनेक लोग रहे जिनका उल्लेख मैं पिछले प्रकरणों में कहीं-कहीं कर चुका हूँ, इन निम्नलिखित मित्रों से विशेष घनिष्ठता रही—

बाबू राधाकृष्णदास-सा सज्जन और सहृदय मित्र मिलना तो कठिन है। उनकी कृपा का मैं कहाँ तक उल्लेख करूँ। उन्हीं ने मुझे हस्तलिखित पुस्तकों की खोज का काम सिखाया और हिंदी के संबंध में अनुसंधान करने की रीति सिखाई। बाबू कार्तिकप्रसाद तो सदा हिंदी के अभावों का उल्लेख कर उनको दूर करने के लिये मुझे उत्साहित करते थे। इन दोनों को यदि मैं अपना गुरु मानूँ तो कुछ अत्युक्ति न होगी।

बाबू जगन्नाथदास 'रत्नाकर' से मेरा परिचय सभा के ही संबंध में हुआ था। दिनों-दिन प्रेम बढ़ता गया और अत्यंत घनिष्ठता हो

गई। वे मुझे अपनी अत्यंत गोपनीय बात भी बताने में कभी संकोच न करते थे। पंडित श्यामबिहारी मिश्र और पंडित शुकदेवबिहारी मिश्र से लखनऊ जाने पर विशेष घनिष्ठता हुई। पंडित माधवराव सप्रे तो मेरे अनन्य प्रेमियों में थे। डाक्टर काशीप्रसाद जायसवाल से मेरा बहुत पुराना परिचय था। उन-सा मित्र मिलना कठिन है। पंडित गौरीशंकर हीराचंद ओझा, डाक्टर हीरालाल, डाक्टर हीरानंद शास्त्री, पंडित चंद्रधर शर्मा गुलेरी जैसे विद्वानों की मुझ पर सदा कृपा रही। ईश्वर की अत्यंत कृपा है कि ओझा जी तथा शास्त्री जी का व्यवहार अभी तक पूर्ववत् चला जाता है। इनकी सज्जनता, सहृदयता और सौहार्द की जहाँ तक प्रशंसा की जाय थोड़ी है। बड़े सौभाग्य से ऐसे सज्जनों से प्रेम होता और यावत् जीवन बना रहता है। कलकत्ते के पंडित दुर्गाप्रसाद मिश्र से भी मेरा अत्यंत स्नेह था। वे प्रायः काशी आते थे। उन्हीं ने मुझे काश्मीर ले जाने का उद्योग किया, पर दुर्भाग्य से मुझे वहाँ सफलता न मिली। बाबू माधोप्रसाद, बाबू वेणीप्रसाद, बाबू जुगुलकिशोर और बाबू कृष्णबलदेव वर्म्मा तो मेरे बड़े पुराने मित्र और एक प्रकार से भाई-समान रहे और हैं। अनेक कामों में हम लोगों का साथ रहा और हम लोगों ने सदा निष्कपट सौहार्द बरता। पिछले दिनों बाबू जयशंकरप्रसाद तथा बाबू मैथिलीशरण गुप्त से स्नेह बढ़ा। "प्रसाद" जी से विशेष घनिष्ठता हो गई थी। मेरी अधिकांश पुस्तकों के प्रकाशक इंडियन प्रेस के स्वामी बाबू चिंतामणि घोष और उनके पुत्र बाबू हरिकेशव घोष का मेरे प्रति बर्त्ताव सदा सौजन्यपूर्ण, उदार और सच्चा रहा जिसके लिये मैं

उनका कृतज्ञ हूँ। अब अनेक मित्रों में से कितने ही स्वर्गवासी हो चुके हैं। कुछ थोड़े-से अभी तक इस संसार में वर्तमान हैं और मिल जाने पर पुराने संस्कारों तथा कार्यों की स्मृति को जागरित कर देते हैं। इन सब मित्रों से, जिनका मैं ऊपर उल्लेख कर चुका हूँ, सदा एकरस भाव बना रहा।

(१६) मेरे जीवन में दो बातें मुख्यतया विशेषता रखती हैं। एक तो मेरा जीवन सदा संघर्ष में बीता। विरोध का सामना करने में मुझे प्रयत्नशील रहना पड़ा। विरोध तथा कटु आलोचना में भी जो बात ग्राह्य होती थी उसे मैं सहर्ष ग्रहण कर लेता था, पर अपने ध्येय से कभी चल-विचल न होता था। यही कारण है कि मैंने जितने काम हाथ में लिए उनमें आशातीत सफलता प्राप्त हुई, पर साथ ही यह बात भी हुई कि व्यक्तिगत उद्योगों में—जिनके द्वारा मैं अपनी निजी स्थिति सुधारने में दत्तचित रहा--मुझे प्राय: असफलता ही हुई। दूसरी विशेष बात मेरे जीवन में यह हुई कि वैयक्तिक रूप से मैंने जिन जिन की सहायता की उनमें से अधिकांश प्राय: कृतघ्न सिद्ध हुए और अपने स्वार्थ के आगे मुझको हानि पहुँचाने में उन्हें तनिक भी संकोच न हुआ। गार्हस्थ्य जीवन में भी मुझे प्राय: असुख और अशांति ही मिली, पर मैं अपने कर्त्तव्य-पालन से कभी विचलित न हुआ। फिर भी सब बातों पर एक साधारण दृष्टि डालने से मैं अपने को बड़ा भाग्यशाली समझता हूँ। यह कम लोगों के भाग्य में रहता है कि जिस बीज को वे बोते हैं उसे प्रकांड वृक्ष के रूप में उगते, पल्लवित, पुष्पित तथा फलान्वित होते देख सकें। मुझे ऐसा सौभाग्य

प्राप्त हुआ। मैंने नागरीप्रचारिणी सभा तथा हिंदी-भाषा और साहित्य की उन्नति में भरसक उद्योग किया और अपनी तथा अपने कुटुंब की चिंता छोड़कर इनकी सेवा में अपना शरीर अर्पण कर दिया। भारतेंदु हरिश्चंद्र के गोलोकवास के उपरांत हिंदी बड़ी शोचनीय अवस्था में थी। उसे कोई पूछनेवाला न था। नागरीप्रचारिणी सभा की स्थापना, 'सरस्वती' पत्रिका के प्रकाशन तथा हिंदी-साहित्य-सम्मेलन की आयोजना से हिंदी इतनी दृढ़ता से उन्नति करने लगी कि आज दिन वह प्रमुख भाषाओं में उच्च सिंहासन पर विराजमान है और राष्ट्रभाषा के गौरवान्वित पद को प्राप्त कर रही है। उसके साहित्य में नित्य नए-नए रत्न निकलने लगे हैं। जयशंकरप्रसाद से नाटककार, प्रेमचंद से उपन्यास-लेखक, रत्नाकर और श्रीधर पाठक से कवि, बालमुकुंद गुप्त और महावीरप्रसाद द्विवेदी से पत्रकार, बालकृष्ण भट्ट और पूर्णसिंह से निबंध-लेखक, तथा पार्वतीनंदन से कहानी-लेखक उसकी सेवा कर चुके हैं और वर्तमान काल में अनेक कवि, नाटककार, उपन्यास-लेखक, कहानी-लेखक, समालोचक, निबंध-लेखक तथा आकर-ग्रंथों के रचयिता उसकी सेवा में तत्पर हैं। यह क्या कम संतोष और आनंद की बात है? सच तो यह है कि हिंदी का वर्तमान रूप बड़ा चमत्कार-पूर्ण है। इसमें भावी उन्नति के बीज वर्तमान हैं जो समय पाकर अवश्य पल्लवित और पुष्पित होंगे। परिवर्तन-काल में जिन गुणों का सब बातों में होना स्वाभाविक है वे सभी हिंदी-भाषा और साहित्य के विकास में स्पष्ट देख पड़ते हैं और काल का धर्म भी पूर्णतया प्रतिबिंबित हो रहा है। इस

अवस्था में जीवन है, प्राण है, उत्साह है, उमंग है और सबसे बढ़कर बात यह है कि भविष्योन्नति के मार्ग पर दृढ़तापूर्वक अग्रसर होने की शक्ति और कामना है। जिनमें ये गुण वर्तमान हैं वे अवश्य उन्नति करते हैं। हिंदी में ये गुण हैं और उसकी उन्नति अवश्यभावी है। हिंदी भाषा और उसके साहित्य का भविष्य बड़ा ही उज्ज्वल और सुंदर देख पड़ता है। आदर तथा सम्मान के पात्र वे महानुभाव हैं जो अपनी कृतियों से इसके मार्ग के कंटकों और झाड़-झंखाड़ों को दूर कर उसे सुगम्य, प्रशस्त और सुरम्य बना रहे हैं। कुछ लोग हिंदी के विरोध से घबरा उठते हैं। किंतु मैं इस विरोध को ईश्वर की देन समझता हूँ। इससे अपने ध्येय पर आगे बढ़ने की शक्ति हममें आती है। अब तक हिंदी-भाषा और साहित्य की जो उन्नति हुई है वह विरोध की अवस्था में हुई।

इस आत्म कहानी को मैंने १५ अगस्त १९३९ को लिखना आरंभ किया और आज २५ अक्टूबर १९४० को यहाँ पर समाप्त किया। आगे की परमात्मा जाने।

(१७) ऊपर जिन घटनाओं का उल्लेख हो चुका है उनके अनंतर एक विशेष घटना हुई जिसका उल्लेख कर देना आवश्यक है। काशीनागरीप्रचारिणी सभा की स्थापना १६ जुलाई सन् १८९३ को हुई। उसके जीवन के ४७ वर्ष बीत चुके हैं। अब वह अपने ४८ वें वर्ष में है। इस ४७ वर्षों के दीर्घ काल में अनेक स्वनामधन्य महानुभावों ने सभा के सभापति तथा मंत्री के पद को ग्रहण करके यथासाध्य उसके उद्देश्यों को पूर्ण करने तथा उसके कार्यों को सुचारु

रूप से संपन्न करने में कोई बात उठा नहीं रखी। यह इन महाशयों के सतत उद्योग का फल है कि यह सभा आज सार्वजनिक संस्थाओं में एक ऊँचे स्थान पर विराजमान है। इन ४७ वर्षों में सभा ने हिंदी-भाषा तथा देवनागरी लिपि की हित-साधना में आठ लाख से ऊपर धन इकट्ठा करके व्यय किया, पर किसी सभापति या मंत्री ने कभी सभा से किसी प्रकार का आर्थिक लाभ उठाने का उद्योग नहीं किया। सभा का मूल मंत्र उसके अधिकारी कार्यकर्त्ताओं की निस्स्वार्थ सेवा रहा है और इसी का यह फल है कि उसके कामों में इतनी अधिक सफलता प्राप्त हुई।

सभा का २९ (ग) वाँ नियम इस प्रकार है—"जो सभासद् सभा के किसी कार्य पर कुछ मासिक वेतन देकर नियत किए जायँगे अथवा जिनका व्यापारिक संबंध सभा से होगा उन्हें अपने संबंध में वोट देने या पदाधिकारी अथवा प्रबंध-समिति के सदस्य होने का अधिकार न होगा।" इस नियम का पालन अब तक होता आया। जिन सभासदों से एकमुश्त रुपया देकर कोई पुस्तक लिखवाई, अनुवादित, संशोधित या संपादित कराई जाती उन पर यह नियम नहीं लगता था, क्योंकि यह रुपया एक विशेष काम के लिये दिया जाता था। उस काम के समाप्त होते ही वह व्यापारिक संबंध भी समाप्त हो जाता था। इसके साथ यह बात भी स्पष्ट है कि किसी सभापति ने किसी काम के लिये सभा से एक पैसा भी नहीं लिया। केवल दो या तीन मंत्री ऐसे हुए हैं जिन्होंने एकमुश्त रुपया लेकर सभा का साहित्यिक काम किया है।

हिंदी-शब्दसागर की प्रस्तावना के स्वरूप में पंडित रामचंद्र शुक्ल ने हिंदी-साहित्य का इतिहास लिखा है। यह पीछे से पुस्तकाकार छपा और इसके लिये उन्हें हजार-बारह सौ रुपया पुरस्कार दिया गया। गत वर्ष सन् (१९३९) शुक्ल जी ने उसका संशोधित और परिवर्धित संस्करण तैयार किया जो अभी तक पूर्णतया छपकर प्रकाशित नहीं हुआ। इस नवीन संस्करण के संबंध में सभा ने निश्चय किया कि इस पर शुक्ल जी को २०) सैकड़ा रायल्टी दी जाय। यहाँ इतना और बतला देना आवश्यक है कि यह इतिहास सूर्यकुमारी पुस्तकमाला में प्रकाशित हुआ है। इस पुस्तकमाला को प्रकाशित करने के लिये शाहपुराधीश महाराज उम्मेदसिंह जी ने सभा को लगभग २० हजार रुपया दान दिया है। अब इस पुस्तकमाला के कुछ ग्रंथों को इंडियन प्रेस प्रकाशित करता और सभा को प्रत्येक पुस्तक की बिक्री पर २०) सैकड़ा रायल्टी देता है। पुस्तकमाला के प्रबंध के लिये सभा के कार्यालय में जो व्यय होता है उसके लिये इस पुस्तकमाला की बिक्री से ८) * सैकड़ा काट लिया जाता है। इस प्रकार इस आयोजन का अर्थ यह हुआ कि २०) आय हो और २८) व्यय किया जाय। प्रश्न यह है कि इस प्रकार कार्य करना क्या एक निधि के धन का सदुपयोग करना कहा जा सकता है।

इन सब बातों का जब मुझे पता लगा तब मैंने सभापति महाशय से उनका विरोध किया। पर उनकी बात-चीत से मेरी यह धारणा हुई कि वे इन प्रश्नों को व्यक्तिगत विद्वेष का रूप देकर अपने कार्य का

---

* सुना है यह रकम अब १२॥) सैकड़ा कर दी गई है।

समर्थन करना चाहते हैं। अंत में मैंने उन्हें एक पत्र लिखा, जिसकी नकल नीचे दी जाती है—

'यह बड़े आनंद और संतोष की बात है कि काशीनागरी-प्रचारिणी सभा अपने जीवन का ४७वाँ वर्ष समाप्त करके ४८वें वर्ष में पदार्पण कर रही है। अब तक वह हिंदी-भाषा तथा नागरी लिपि की जो सेवा कर सकी है वह अत्यंत श्लाघनीय और स्पृहणीय है। यह सफलता उन महानुभावों के आत्मत्याग और निःस्वार्थ सेवा का फल ही माना जायगा जिन्होंने अपने प्राणपण से इसकी सेवा की है, पर अब अड़तालीसवें वर्ष से सभा एक नए मार्ग पर अग्रसर होना चाहती है, जो मुझे भविष्य के लिये अत्यंत भयावह तथा कंटकाकीर्ण जान पड़ता है। अब तक सभा का यह नियम रहा है कि उसके कार्यकर्त्ता तथा प्रबंध-समिति के सदस्य वे ही महानुभाव हो सकते हैं जिनका सभा से व्यापारिक संबंध न हो या जो वेतनभोगी न हों। व्यापारिक संबंध या तो (१) पुस्तक-विक्रेताओं या प्रेसवालों से हो सकता है अथवा (२) उनसे हो सकता है, जो पारिश्रमिक लेकर सभा का साहित्यिक कार्य करते हैं। यह या तो एकमुश्त धन लेकर या रायल्टी लेकर किया जा सकता है। इन दोनों में अंतर है। एकमुश्त पारिश्रमिक लेकर काम करने का कार्य किसी एक पुस्तक तक ही सीमित है, पर रायल्टी लेकर काम करना ५०-६० वर्ष तक चलता रह सकता है। अब तक सभा ने पारिश्रमिक देकर उन सज्जनों से काम कराया है जो प्रबंध-समिति के सदस्य भी रहे हैं। यद्यपि जहाँ तक मुझे ज्ञात है आज तक एक भी कार्यकर्त्ता ऐसा नहीं

हुआ है जिसने सभा की सेवा के लिये किसी प्रकार का पुरस्कार स्वीकार किया हो। मेरे विचार में पारिश्रमिक देकर काम कराना अनुचित नहीं है, पर रायल्टी लेकर काम करनेवालों का पदाधिकारी होना या प्रबंध-समिति का सदस्य बनना सर्वथा अनुचित और अवांछनीय है। इससे वह मार्ग खुल जाने की आशंका है जिससे सभा के अधिकारियों तथा प्रबंध-समिति के सदस्यों में क्रमशः ऐसे लोग भर जायँगे जो अपने स्वार्थसाधन को ही अपना ध्येय मानेंगे और सभा तथा उनके द्वारा हिंदी की सेवा गौण हो जायगी। अतएव मैं सभा की इस नीति का घोर विरोध करता हूँ। आशा है कि सभा मुझसे सहमत होगी।

"प्रार्थना है कि आप इस पत्र को वार्षिक अधिवेशन में उपस्थित कर देंगे और जो कुछ निश्चय हो उसकी सूचना मुझे देंगे।"

ऊपर जो कुछ लिखा गया है उसका संबंध पंडित रामचंद्र शुक्ल को उनके इतिहास पर २० रुपया सैकड़ा रायल्टी देना तथा उनका सभापति चुना जाना और कुछ महाशयों का प्रबंध-समिति का सदस्य बनना है। भ्रमवश मेरा यह पत्र पंडित रामनारायण मिश्र को वार्षिक अधिवेशन के एक दिन के अनंतर मिला जिससे वे उसे वार्षिक अधिवेशन में उपस्थित न कर सके। अब तक (१५-८-४०) यह पत्र कहीं उपस्थित किया गया या नहीं इसकी मुझे कोई सूचना नहीं मिली है। अपने कार्य को नियमानुकूल बनाने के लिये ४७वें वार्षिक अधिवेशन में उक्त नियम पर यह टिप्पणी लगाकर एक Validating Act पास किया गया—"सभा के लिये पुस्तकों का लेखन, संपादन,

संकलन, संशोधन और अनुवाद व्यापारिक कार्य न समझा जायगा।"

इसके अनंतर एक दिन पंडित रामनारायण मिश्र से भेंट हुई और इस विषय पर बातचीत हुई तो यह सलाह ठहरी कि पत्र लिखकर डाक्टर सच्चिदानंदसिंह से पूछा जाय कि यह कार्य वैध है या अवैध। मैंने इसके लिये एक पांडुलिपि तैयार की, जिसे मैंने मिश्र जी के पास भेज दिया। पंडित जी ने उसे स्वीकार नहीं किया और एक दूसरी पांडुलिपि तैयार करके मेरे पास भेजी। मेरे पत्र और पंडित जी के पत्र में मार्के का अंतर था। मेरे पत्र का मुख्य अंश यह है—

The words 'व्यापारिक संबंध' is liable to be interpreted under the four following heads—(1) Printers, (2) Booksellers, (3) Authors who are paid a royalty and (4) Authors who are paid a lump sum for their work. There is no difference of opinion in regard to (1) and (2) but in regard to (3) and (4) there is a sharp difference of opinion. Some people say that items (3) and (4) come under व्यापारिक संबंध, while others say that item (3) comes under it and not item (4). In order to make this point clear the Sabha recently added a footnote to the words व्यापारिक संबंध. This explanation is ambiguous : पंडित जी ने अपने पत्र में जो लिखा उसका यह अंश विचारणीय है—" There are two opinions about this. There are some

who think that if the note is interpreted to mean that authors are to be excluded, the Sabha will not be able to attract persons of repute and merit. On the other hand some think that to include them would lead to the Sabha being packed with self-seeking persons. Much can be said for and against the question. Your opinion is solicited only about the *legal* interpretation of the rule *as it stands.*"

इस वाक्य में legal और as it stands शब्द विचारणीय है; इस विवाद में सभा के हिताहित का ध्यान न करके केवल कानूनी दृष्टि से और वह भी नियम २९ (ग) और पादटिप्पणी दोनों को एक साथ लेकर विचार करने और सम्मति देने की प्रार्थना की गई है। इस पत्र को देखकर मेरे मन में यह धारणा हुई कि यहाँ न्याय और सभा के हित का ध्यान न रखकर अपने किए की महत्ता को बनाए रखना ही उद्देश्य है। मेरे लिये अब कठिन समस्या उपस्थित हुई। मैं यह स्वीकार नहीं कर सकता था कि किसी निधि की आय २०) सैकड़ा हो और व्यय २८) सैकड़ा किया जाय। साथ ही सभा के हित के ध्यान से मैं यह नहीं मान सकता था कि किसी पुस्तक को लेकर जिनका व्यापारिक संबंध ५०-६० वर्ष तक चलता रहे उनका पदाधिकारी या प्रबंध-समिति का सदस्य होना उचित है। पर जब वर्तमान-कार्यकर्त्ता अपने विचार पर दृढ़ हैं तब मेरे लिये यही उपाय था मैं चुप हो रहूँ। अतएव मैंने निश्चय किया कि मुझसे जहाँ तक बना मैंने सभा की सेवा की। मैं अमर नहीं हूँ कि सदा सभा के

काम में लगा रहूँ। सभा की उन्नति अथवा अवनति उसके वर्तमान तथा भावी कार्यकर्त्ताओं एवं सभासदों पर निर्भर रहेगी। इसके अतिरिक्त मेरा मतभेद एक सिद्धांत को लेकर हुआ, पर कुछ महानुभावों ने इसे वैयक्तिक रूप देने का उद्योग किया।

अंत में ईश्वर से यही प्रार्थना है कि मेरे विचार में भ्रम हो गया है तो यह उसकी कृपा है, पर पंडित रामनारायण मिश्र और उनके सहयोगियों को भ्रम हो गया हो तो वे उस भ्रम के शीघ्र दूर करने की कृपा करें जिसमें यह सभा अनंत काल तक जीवित रहकर हिंदी-भाषा और साहित्य की सेवा कर सके। मेरा दृढ़ विश्वास है कि बिना बलि दिए कोई कार्य ठीक नहीं होता। यहाँ स्वार्थ की बलि देना ही हमारा ध्येय होना चाहिए। अवश्य जो सहायता के योग्य हैं उनकी सहायता करनी चाहिए, पर नीति-निर्धारण और कार्य-संचालन में उनका हाथ न होना चाहिए।

(१८) इस वर्ष गृहस्थी-संबंधी कार्यों में निम्नलिखित बातें उल्लेखनीय हैं—

अप्रैल सन् १९३९ में मेरी पौत्री कमलादेवी का विवाह हुआ तथा मेरे पौत्र व्रजेंद्रकुमार का यज्ञोपवीत संस्कार हुआ और नरेंद्र-कुमार की चोटी उतरवाई गई। जुलाई सन १९४० में मेरे पौत्र माधवलाल का विवाह हुआ। १९ मई सन् १९४० को मेरे पुत्र गोपाललाल के यहाँ कन्या उत्पन्न हुई और ३ अगस्त १९४० को सोहनलाल के यहाँ पुत्र उत्पन्न हुआ। [२६-८-४०]

॥ समाप्त ॥